जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 3 • मार्च, 2004

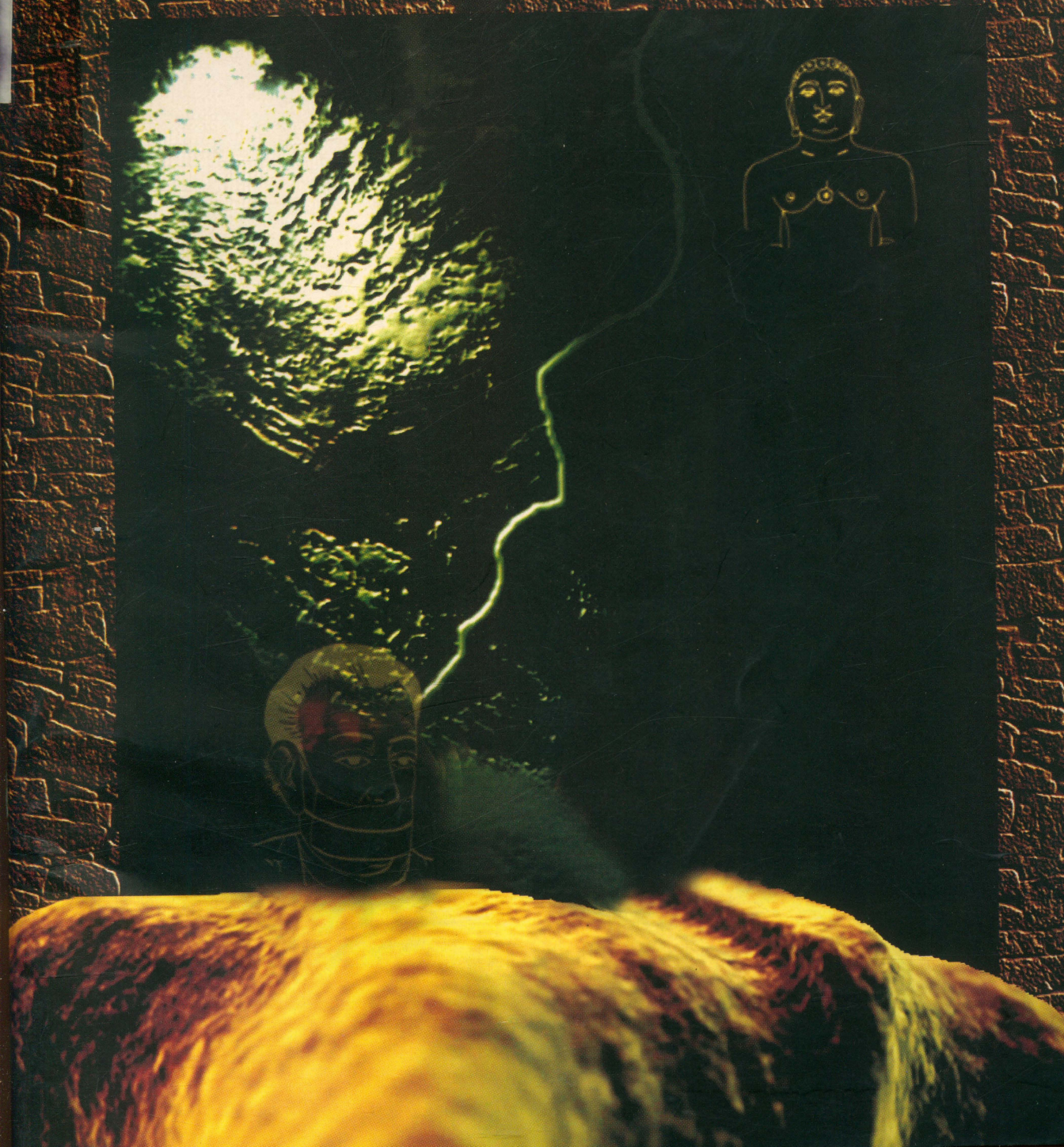

ऐसे व्यक्ति को पिता बनने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए
जो अपनी सन्तान के जीवन-निर्माण में उदासीन रहे।

-आचार्य तुलसी

With best compliments from :

DEVICHAND, TEJRAJ, PUNAMCHAND
BHANWARLAL SANCHETI
(MARWAR JN., RAJASTHAN)

PC

PURNIMA
CUT PIECE CENTRE

Wholesale Dealers for
Suzuki, Sugam Fab, Tikautex, Garima
Suitings & Fancy Shirtings

6/1, Swathi Complex, M. P. Lane
Chickpet Cross, Bangalore 560053
Tel. : 22870796, 22269579

67/2, Sagar Market, D.K. Lane
Chickpet Cross, Bangalore 560053

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • मार्च, 2004 • अंक 3

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
धर्म : निर्विशेषमनस्काय

17
माणकचंद सिंघी
महावीर का अर्थशास्त्र— उपभोग का संयम

20
प्रो. रघुवंश
सांस्कृतिक प्रक्रिया और मानव-व्यक्तित्व

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

29
मुनि बुद्धमल्ल
संत भीखणजी : आत्मोद्धार और जनोद्धार के सेतु

36
साध्वी मुदितयशा
सम्यक् दृष्टिकोण : सार्थक निष्पत्ति

40
साध्वी नगीना
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर

42
कहानी
अशोक सेकसरिया
छाया

48
कविता
निस्सीम इज़ेकील की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-संयम

शीलन

51
साध्वी गवेषणाश्री
गृहिणी गृहमुच्यते

54
बालकथा
प्रदीप पंत
जंगल का शासन

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

मुझे तो अवगुण 'निकालने' ही हैं

किसी ने कहा—'भीखणजी! बाईस संप्रदाय वाले तुम्हारे अवगुण निकालते हैं?'

तब स्वामीजी बोले—'अवगुण निकालते हैं या भीतर डालते हैं?'

तब वह बोला—'निकालते हैं।'

तब स्वामीजी ने कहा—'भले ही निकालें, कुछ-एक वे अवगुण 'निकाल' रहे हैं, कुछ-एक मैं 'निकाल' रहा हूं। मुझे तो अवगुण 'निकालने' ही हैं।'

'सातो'

पीपाड़ में कुछ लोगों ने मनसूबा कर पूछा—'भीखणजी! लोकभाषा में यों कहा जाता है—'सात-सात दूंगा और एक-एक गिनूंगा।' उसका अर्थ क्या है?'

तब स्वामीजी बोले—'उसका अर्थ बिल्कुल सीधा है। सात सुपारी देते हैं और एक 'साता' गिनते हैं।'

लोग यह सुनकर आश्चर्यचकित हो गए।

तुम्हारे लिए नरक ही बचा

भीखणजी स्वामी देसूरी जा रहे थे। बीच में घाणेराव के महाजन मिले। उन्होंने पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?'

स्वामीजी बोले—'मेरा नाम है भीखण'।

तब वे बोले—'भीखण तेरापंथी, वे हो तुम!'

तब स्वामीजी ने कहा—'हां, वही हूं।'

तब वे क्रोध के साथ बोले—'तुम्हारा मुंह दीखे जाने पर आदमी नरक में जाता है।'

तब स्वामीजी ने कहा—'तुम्हारा मुंह दीखने पर?'

तब वे बोले—'हमारा मुंह दीखने पर आदमी देवलोक और मोक्ष में जाता है।'

तब स्वामीजी ने कहा—'हम तो यों नहीं कहते—किसी का मुंह दीखने पर कोई स्वर्ग या नरक जाता है। परंतु तुम्हारे कहने के हिसाब से तुम्हारा मुंह हमने देखा, अतः मोक्ष और देवलोक में तो हम जाएंगे और हमारा मुंह तुमने देखा है, अतः तुम्हारे कहने के अनुसार तुम्हारे हिस्से में नरक ही रहा।' ❖

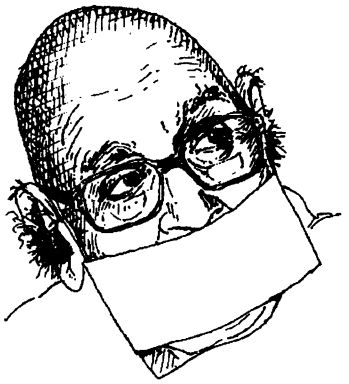

जिन वैज्ञानिक उपकरणों ने आदमी को अपंगता की दिशा में ढकेला है, जिनके कारण उसकी शक्तियां कुंठित हुई हैं और अनेक अनपेक्षित चीजें मानव जीवन के साथ जुड़ी हैं, देखना यह है कि इसमें दोष किसका है? विज्ञान का अथवा उपभोक्ता का? विज्ञान कितने ही नए आविष्कार करे, उनके प्रयोग में संयम रखा जाए तो स्थिति इतनी जटिल नहीं हो सकती। आज जबकि वैज्ञानिक उपकरण प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होने लगे हैं, वे छूट सकें, यह संभव प्रतीत नहीं होता। यदि उनका उपयोग है, तो छोड़ने की बात समझ में भी नहीं आएगी। समझने का एक ही महत्वपूर्ण तत्व है, वह है अणुव्रत दर्शन। अणुव्रत दर्शन के अनुसार जीवन को ढालने का लक्ष्य हो तो असीम संग्रह और असीम भोग की समस्या को स्थाई समाधान मिल सकता है। यही एक मार्ग है, जो दो विपरीत दिशाओं में सेतु बनकर मनुष्य को अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ाने में पूरा-पूरा सहयोग दे सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

साधना के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—तीनों का समुच्चय आवश्यक है। विशेष साधना के प्रयोजन से किसी एक मार्ग को भी चुना जा सकता है। भक्तियोग के साथ भाव-विशुद्धि व लक्ष्य-शुद्धि रहे तो भक्ति भी शक्ति-जागरण का बहुत बड़ा निमित्त बन सकती है।

भक्ति और स्तुति का एक सुंदर निदर्शन है—लोगस्स। इसमें सिद्धों से प्रार्थना की गई कि वे सिद्ध, जो चंद्रमाओं से निर्मल, सूर्यों से ज्यादा प्रभास्वर तथा सागर के समान गंभीर हैं—मुझे सिद्धि प्रदान करें। इसी तथ्य को प्रकारांतर से कहें तो जिसे सिद्धि प्राप्त करनी है, उसे पहले निर्मलता, तेजस्विता और गंभीरता आदि गुणों का विकास करना होगा।

भक्ति के द्वारा शक्ति का जागरण होता है। वह शक्ति वरदान बन जाती है, बशर्ते कि उसका उपयोग दूसरों के हित-संपादन में होता है। अपेक्षा है कि व्यक्ति शक्ति की प्राप्ति से यह संकल्प स्वीकार करे कि मैं अपनी शक्ति का सही उपयोग करूंगा।

—युवाचार्य महाश्रमण

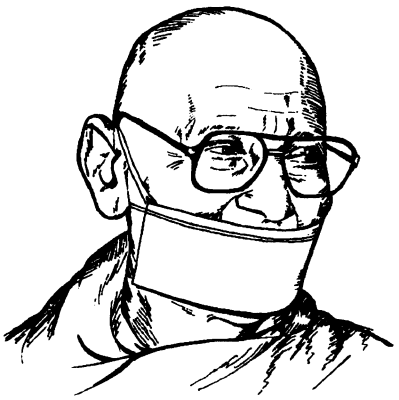

धर्म मानसिक और भावनात्मक स्तर की मांग है। इसलिए जनता उसे छोड़ भी नहीं सकती और उसका आचरण भी नहीं हो रहा है। यह दोहरी समस्या है। इस समस्या के मूल में प्रशिक्षण का अभाव है। हमारा मस्तिष्क बहुत लचीला है। उसे प्रशिक्षित किया जा सकता है, बदला जा सकता है। हिंसा का प्रशिक्षण मिले तो वह हिंसक हो सकता है और अहिंसा का प्रशिक्षण मिले तो वह अहिंसक हो सकता है। उसमें पुरानी आदत को छोड़ने और नई आदत का निर्माण करने की क्षमता है। हिंसा का प्रशिक्षण व्यापक स्तर पर हो रहा है। अहिंसा के प्रशिक्षण की कहीं कोई तैयारी नहीं है। फिर भी धर्म या अहिंसा के विकास की बात सोची जा सकती है।

महावीर ने एक बड़े समूह को अहिंसा के लिए प्रशिक्षित किया था। उनके पास जो आते, उनसे महावीर प्रश्न पूछते—तुम कहां से आए हो? तुम्हें कहां जाना है? इन दोनों प्रश्नों की खोज में मस्तिष्क की गति बदल जाती। वह अतीत की गहराई में जाकर अपने-आप को पहचान लेता अथवा भविष्य के अंधेरे गलियारों को पार कर प्रकाश का चयन कर लेता। चिंतन और ध्यान की गहराई में ले जाने का अर्थ है—मस्तिष्कीय प्रशिक्षण।

अहिंसा के लिए मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की एक प्रकल्पना, एक योजना आवश्यक है। उसके बिना निश्चित दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। अहिंसा का पाठ सौ बार पढ़ लेने पर भी कोई अहिंसक नहीं बन जाता। पाठ प्रशिक्षण का एक अंग हो सकता है, वह प्रशिक्षण का पूरा 'कोर्स' नहीं है। उसके लिए अनेक तत्त्वों का समाहार अपेक्षित है। शास्त्र-निर्माण, प्रयोग और परीक्षण के लिए कितनी बड़ी-बड़ी योजनाएं और कार्यक्रम चल रहे हैं। इसीलिए हिंसा में विश्वास रखने वालों की एक बड़ी सेना तैयार है। हिंसा अपने-आप में निषेधात्मक है। वह स्वयं भयंकर है और उसके परिणाम भी भयंकर हैं। परिणाम की भयंकरता को देखकर लोग अहिंसा की बात करते हैं। अहिंसा का स्वतंत्र चिंतन नहीं है। अहिंसा स्वयं विधायक है और उसके परिणाम भी विधायक हैं। पर उसके लिए हमारा मस्तिष्क तैयार नहीं है। क्या मस्तिष्क के परिवर्तन की बात सोची जाएगी? क्या इस वैज्ञानिक और प्रायोगिक युग में अहिंसा को प्रयोग की भूमि प्राप्त होगी? इन प्रश्नों का उत्तर खोजना है, हम सबको खोजना है और मुख्यतः उन्हें खोजना है, जो हिंसा से भयभीत नहीं हैं, किंतु अहिंसा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-संयम

ये पूरक हैं एक-दूसरे के, संयम रहे तो अहिंसा सधे और अहिंसा सध जाए तो संयम स्वतः सहज हो जाए। देखा जाए तो सब समस्याओं का निस्तारण संभव है इस बीज में—अहिंसा-संयम में। जिन विषमताओं से हमारा समाज आज संत्रस्त है, उनका उपाय इस 'ताबीज' में निहित है। पर यह 'ताबीज' असरदार कैसे हो? झाड़-फूंक वालों का 'मादळिया'-भर रहने से इस 'ताबीज' का असर नहीं होने वाला। हमारी जीवन-शैली बदले, इस 'ताबीज' से—तो बात बने। यह कैसे संभव है?

फूटा तो भारत की भूमि से है—अहिंसा का निनाद। बात भी सबसे अधिक इसी धरती पर होती है—अहिंसा की। पर, एक प्रस्ताव आया है पेरिस से और प्रस्तावक हैं स्कूली विद्यार्थी। यहां के 'इंटरनेशनल स्कूल' के बच्चों ने तीस जनवरी को 'विश्व अहिंसा दिवस' मनाने का आह्वान किया है। तीस जनवरी भारत के लिए यादगार दिन है। महात्मा गांधी का निर्वाण इसी रोज हो गया था। सीने पर बंदूक की गोली खाते हुए भी बापू के मुंह से 'हे राम' शब्द ही निकले थे। जैसे अहिंसक प्रतिकार का अपना संकल्प आखिरी समय में भी वे भूले नहीं। कहते हैं, गोली की असह्य पीड़ा में भी कराह नहीं, 'हे राम'—एक शांत स्वर—फूटा था। जाहिर है, पेरिस के इंटरनेशनल स्कूल के बच्चे इसी दिन को 'विश्व अहिंसा दिवस' मनाने का कहते हैं तो इससे अधिक प्रेरक दिन दूसरा कौन हो सकता है! इन बच्चों के प्रस्ताव के साथ-साथ कुछ और जन भी समर्थन में आगे आए हैं। हाल ही में मुंबई में विश्व सामाजिक मंच (वर्ल्ड सोशल फॉरम) का एक अधिवेशन हुआ। दुनिया-भर के सामाजिक कार्यकर्ता, समाजकर्मी और अलग-अलग अनुशासनों के अन्य प्रमुख जन इस विश्व फॉरम में एकत्र हुए। इसी अधिवेशन में एक शिक्षक अक्षय बकाया ने पेरिस के बच्चों का यह प्रस्ताव रखा। अक्षय बकाया उनके अध्यापक हैं। ईरान की शीरीं इबादी ने इसका भरपूर समर्थन किया। नोबल सम्मान से विभूषित शीरीं ने विश्व के सम्मुख इस प्रस्ताव पर स्वीकार्य भाव प्रकट करने की पेशकश की। बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने भी अपने एक आलेख (कॉलम) में कहा कि अगले वर्ष तीस जनवरी का दिन 'विश्व अहिंसा दिवस' के रूप में मनाया जाए।

महात्मा गांधी के 'एकादश व्रत' के लिए संकल्पित और इन्हीं के लिए जीवन के 95 वर्ष खपा देने वाले हमारे श्रद्धेय वयोवृद्ध श्री सिद्धराज ढड्ढा ने भी इस प्रस्ताव पर सहमति प्रकट की है। वे कहते हैं—'इधर कुछ अरसे से हमारे देश में व्यक्तिगत और सार्वजनिक—दोनों क्षेत्रों में हिंसा का जो तांडव हो रहा है, उसे देखते यह निमंत्रण स्वीकार करने योग्य है। ढड्ढाजी की अंतःपीड़ा थोड़ी भावुक और कुछ शंकालू स्वर में व्यक्त होती है—'आज-कल अंतरराष्ट्रीय स्तर पर तरह-तरह के अच्छे कामों के लिए दिवस मनाए जाते हैं। मालूम नहीं कि जो लोग यह तय करते हैं उनके कानों तक या हृदय तक पेरिस के बच्चों की यह आंतरिक पुकार पहुंचेगी या नहीं, पर बच्चों के संवेदनशील हृदय से निकला हुआ यह निमंत्रण, यह पुकार स्वीकार करने योग्य जरूर है।'

अपने प्रस्ताव के साथ बच्चों ने जो सुझाव दिए हैं, वे मननयोग्य हैं। सुझाव हैं—उस दिन उपवास रखें (कम-से-कम मांसाहार न करें), टी.वी. देखने की बजाय कोई पुस्तक पढ़ें, सोचें, वाणी पर संयम रखें और कम-से-कम इस एक दिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पाद का बहिष्कार करें। पेरिस की जिस स्कूल के बच्चों ने यह प्रस्ताव रखा—वहां विभिन्न धर्मों, नस्लों और समुदायों के बच्चे पढ़ते हैं।

पेरिस के विद्यार्थियों ने 'विश्व अहिंसा दिवस' के प्रस्ताव के साथ इस रोज जो करणीय हैं—उसके जो बिंदु प्रस्तावित किए हैं—उन्हें देखें। उपवास, टी.वी. न देखना, वाणी पर संयम और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पाद का बहिष्कार। हमारी पांच प्रमुख इंद्रियों—रसनेंद्रिय, स्पर्शनेंद्रिय, चक्षुरिंद्रिय, श्रोत्रेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय के संयम की बात इन बिंदुओं में निहित है। बचपन से ही संयम का पाठ यदि पढ़ना शुरू हो जाए तो संयममय समाज का निर्माण स्वाभाविक हो सकता है और अहिंसक समाज भी तभी संभव हो सकता है।

विश्व स्तर पर यदि यह बात स्वीकार्य हो जाए तो कुछ अन्य पक्षों पर भी विचार हो सकता है—जैसे कि 'अहिंसक जीवन-शैली' के लिए व्यावहारिक स्तर पर शिक्षण-प्रशिक्षण। भारत के मनीषी-विचारक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विगत लंबे समय से यह कहते आ रहे हैं कि अहिंसा के लिए प्रायोगिक स्तर पर शिक्षण-प्रशिक्षण हो। 'अहिंसा परमो धर्मः'—बात ठीक है, पर इतने-भर से अहिंसा के सरोकार पूरे नहीं होने वाले। धार्मिक कहलाने वाला कोई व्यक्ति कितना अहिंसक है—इसकी कसौटी अब 'कर्मकांडी धर्म' नहीं हो सकता। इसके लिए तो पग-पग और पल-पल अपने मन, मस्तिष्क और विचार से अहिंसक होना जरूरी है। गरज कि अहिंसक जीवन-शैली, अहिंसक जीवन-दृष्टि विकसित हो। यह काम बचपन से मिलने वाले शिक्षण-प्रशिक्षण के जरिए सरलता से संभव हो सकता है।

विश्व स्तर पर इस पर विचार किया जाना अब समय की आवश्यकता है। इस दिशा में अब कारगर विचार होना ही चाहिए। भारत में इसकी प्रबल और आशाजनक संभावनाएं हैं। यहां अलग-अलग मतों और समूहों के नीतिसूत्रों में 'अहिंसा' का विशिष्ट स्थान है। जैन-मत में तो अहिंसा को प्रमुख आधार ही माना गया है। भाद्रव मास में जैनों का प्रमुख पर्व पर्युषण आता है। आठ दिन के इस साधना-पर्व में अहिंसा-दिवस भी एक होता है। इन आठ दिनों में कई प्रदेशों में मांस के विक्रय पर प्रतिबंध रहता है। मांसाहार निषेध के लिए समाज को अभिप्रेरित किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय स्तर पर 'अहिंसा दिवस' घोषित होना कठिन नहीं है।

पर पेरिस के छात्रों का प्रस्ताव 'अहिंसा दिवस' की घोषणा-भर तक सीमित नहीं देखना चाहिए। हम दिवसों का वास्तविक 'हश्र' जानते हैं। रस्मी तौर पर 'अहिंसा दिवस' होना अर्थहीन ही होगा। व्यावहारिक तौर पर 'अहिंसक समाज निर्माण' के ठोस उपाय होने चाहिए। विश्व के लिए भारत एक अनुकरणीय-उल्लेखनीय मिसाल तभी हो सकता है।

अहिंसा के लिए इस दृष्टि से देश में इस समय जो कुछ हो रहा है—हमें देखना चाहिए। निश्चय ही जो हो रहा है—उसमें काफी कमियां हो सकती हैं। हर काम को उत्तरोत्तर प्रभावी, परिणामदायी और परिपुष्ट बनाने की गुंजाइश रहती है। इन कामों में भी है। सवाल है बेलाग समीक्षा और सकारात्मक दृष्टि से उसे ग्रहण करने की। यह होना कठिन नहीं है। जरूरत इस दिशा में सोचने की है।

'अहिंसा समवाय' और 'अणुव्रत' के माध्यम से अहिंसक समाज-रचना का काम तो भारत में यत्किंचित हो ही रहा है। अहिंसा समवाय ऐसा ही मंच है, जहां अहिंसक जीवन-दृष्टि में आस्था-विश्वास रखने और कुछ करने का इरादा रखने वालों को सहभागिता से इस काम को अंजाम देने के अवसर सुलभ होते हैं। अतः 'विश्व अहिंसा दिवस' के प्रस्ताव पर 'अहिंसा समवाय' पहल कर सकता है, करनी चाहिए।

'अहिंसा समवाय' यदि यह पहल करता है तो प्रायोगिक स्तर पर शिक्षण-प्रशिक्षण की बात को स्वाभाविक रूप से मजबूती मिल सकती है। समवाय और शिक्षण-प्रशिक्षण—दोनों ही कामों में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की मेधा और दृष्टि निहित है। जिन पांच इंद्रियों के संयम की बात जैन-मत में प्रभावी रूप से कही जाती रही है—ये बातें अब सूत्रों में, ग्रंथों में अथवा मात्र वाणी-विचार में न रहकर व्यावहारिक-वास्तविक धरातल पर प्रकट होनी चाहिए। पेरिस के इस संकेत को समझा जाना चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

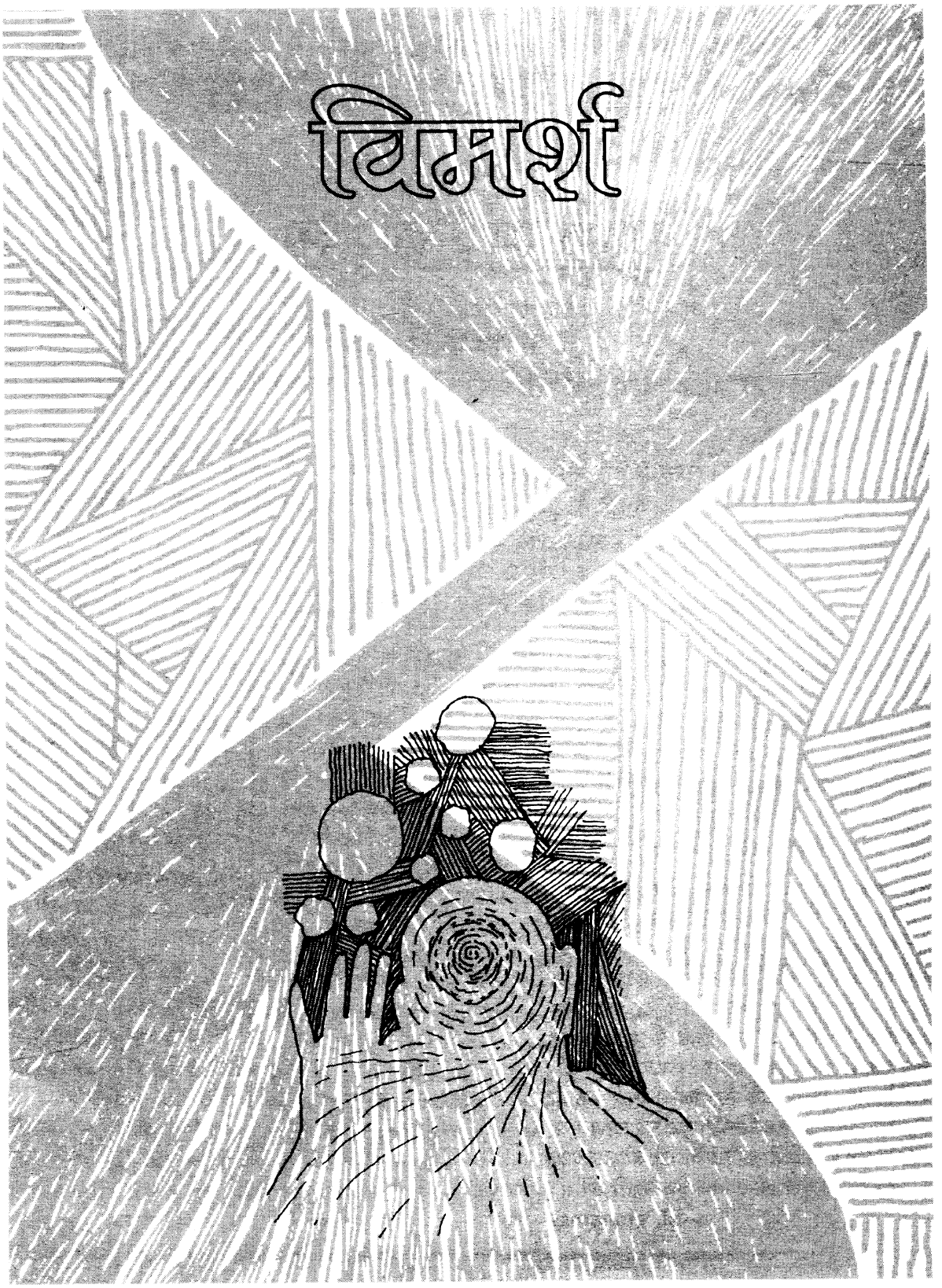

जब मानवों को स्पष्ट ज्ञान होता है, जब वे जागरित होते हैं, तब उन्हें अनुभव होता है कि किसी अकथनीय ढंग से, वे परमात्मा की अभिव्यक्ति के उपकरण मात्र हैं, परमात्मा के 'वाहन' हैं। यह अनुभव करने के बाद हम वैयक्तिकता से ऊपर उठ जाते हैं और अपने सहयोगियों का पक्ष ग्रहण करने लगते हैं, क्योंकि हम और हमारे सहयोगी—सभी एक ही परमात्मा की अभिव्यक्ति हैं। हम परमात्मन् के उपकरण बन जाते हैं और प्रेम, सद्भावना तथा करुणा से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं।

—डॉ. राधाकृष्णन

लोग धर्म के विषय में चर्चा करते हैं। वे धर्म की पुस्तकें पढ़ते हैं। उनमें धर्म-प्रवचन सुनने की रुचि भी है। वे धर्म के क्रियाकांड भी करते हैं। पर जिस व्यक्ति ने मन को एकाग्र करना नहीं सीखा, इच्छाओं पर नियंत्रण करना नहीं जाना, श्वास का संयम करना नहीं सीखा और इनके द्वारा मनोबल का विकास करना नहीं सीखा—वह धर्म-प्रेमी हो सकता है, पर सच्चे अर्थ में धार्मिक नहीं हो सकता।

❑❑

धर्म : निर्विशेषमनस्काय

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

सत्य और धर्म दो नहीं होते हैं। जहां सत्य है, वहीं धर्म है। जहां धर्म है, वहीं सत्य है। सत्य ही धर्म और धर्म ही सत्य है। व्यक्ति सचाई का जीवन जीए तो वह न जीवन के प्रति अनुरक्त होगा और न मृत्यु से संत्रस्त। धर्म की भूमिका से हटकर आदमी कुछ-न-कुछ अतिरिक्त जोड़ लेता है और जब धर्म की साधना स्पष्ट नहीं होती तो मौत से भय लगता है।

दिन और रात का एक चक्र है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन—यह चक्र अनवरत चल रहा है। बिना दिन के रात और रात के बिना दिन—ऐसा हो पाना समझ से परे है। हम जीवन के बिना मृत्यु और मृत्यु के बिना जीवन की कल्पना नहीं कर सकते। दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसीलिए इनका अस्तित्व है। दोनों का समान महत्त्व है। फिर भी आदमी जीना चाहता है, मरने से घबराता है। यह परोक्ष कारण है। जहां परोक्ष आ जाता है वहीं भय पैदा हो जाता है। हो सकता है मरने के बाद उसे अच्छी स्थिति प्राप्त हो, किंतु परोक्ष है, इसीलिए मनुष्य मृत्यु से घबराता है।

धर्म के प्रसंग को लेकर हर युग में चर्चाएं होती रही हैं। उपासनात्मक धर्म, कर्मकांडी धर्म, लोक-धर्म आदि-आदि पक्षों के आधार पर धर्म को कई तरह की कसौटियों पर चढ़ाया जाता रहा है। अध्यात्म और धर्म के भेद पर भी चर्चाएं हुई हैं और धर्म को अफीम मानने वालों ने धर्मविहीन अध्यात्म को मनुष्यता के लिए श्रेयस्कर भी माना है। धर्म और अध्यात्म की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में 'जैन भारती' ने एक मंच के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह किया है। 'धर्म और विज्ञान' जैसे विवादास्पद, पर जरूरी प्रसंग पर जैन भारती (जुलाई, 1999 से जुलाई, 2000 के मध्य) में चली बहस पाठकों को याद होगी। वैचारिक उत्तेजना के लिए ऐसी बहसों के लिए समुचित गुंजाइश रहे—ऐसा हम मानते हैं। इसी दृष्टि से धर्म की जटिलताओं पर एक बेबाक विवेचन प्रस्तुत करता है भारतीय मनीषा के शलाका-पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह आलेख—

धर्म : मृत्यु की कला

आदमी मौत से प्रायः दो कारणों से डरता है। एक भय तो यह कि धन-धान्य, इष्ट-मित्र तथा पड़ोसी छूट जाएंगे। दूसरा भय यह है कि जो कल्पनाएं उसने कर रखी हैं—वे साकार नहीं हो पाएंगी। साधारण व्यक्ति की बात जाने दें, महाप्रतापी रावण को भी मृत्यु के समय यही पश्चात्ताप था कि उसकी आकाक्षाएं अधूरी रह गईं। संजोए सपनों के टूट जाने का भय भी चिर-काल तक जीवित रहने की लालसा जगाता है। महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति को जीवन के प्रति अनुरक्त बनाती है। जिस व्यक्ति में ये दो बातें नहीं होतीं, वह मृत्यु की परवाह किए बिना जीता है।

आचार्य भिक्षु ने अपने अंतिम क्षणों में अपने पास उपस्थित साधुओं से कहा—'मैं जा रहा हूं। मेरे प्रति कोई मोह या ममता मत करना। मेरे मन में कोई न्यूनता या कमी नहीं है।'

हर वस्तु की एक सीमा है। असीम कोई नहीं है। सब ससीम हैं। असीम केवल चेतना की अनुभूति हो सकती है। मनुष्य इस बात को समझ नहीं पाता। इसलिए वह तनावग्रस्त रहता है। मरता है तो भी तनाव की स्थिति में ही मरता है।

मेरे पास एक दिन एक भाई आया, बोला—'मेरे मन में हमेशा एक तनाव-सा रहता है। आप लेखन और अध्ययन में व्यस्त रहते हैं। क्या आपके मन में भी तनाव आता है?'

मैंने कहा—तनाव और उसके उत्पन्न होने के कारणों का मैंने बारीकी से निरीक्षण किया है। तनाव क्या है, इसकी मुझे कभी अनुभूति ही नहीं हुई।

जो आकांक्षा को नहीं पालता, उसे पता ही नहीं चलता कि अहंकार क्या है। तृप्ति या निःशेष की भावना यदि विकसित हो जाए—कि मैंने सब-कुछ पा लिया, अब कुछ बाकी नहीं रहा—तो तनाव नहीं हो सकता।

भगवान महावीर ने जितनी जीने की कला सिखाई, उससे कहीं ज्यादा मरने की कला सिखाई। जिसने मरने की कला नहीं सीखी उसे जीने की कला आ ही नहीं सकती। मन में शंकाएं लेकर जीना भय को निमंत्रण देना है। वह कभी आनंद से तो जी ही नहीं सकता। धर्म जीने की एक महत्त्वपूर्ण कला है। उसे जानने वाला जीने की कला को जान लेता है और मरने की कला को भी जान लेता है। तब उसके लिए जीवन और मृत्यु समान हो जाते हैं। जीवन और मृत्यु प्रतिपल समानांतर रेखाओं की तरह साथ-साथ चल रहे हैं। जो जीवन का क्षण है, वही मृत्यु का भी क्षण है। किंतु हमारी प्रवृत्ति, हमारा चिंतन ही ऐसा है कि अंतिम क्षण को ही महत्त्व देते हैं, प्रारंभिक क्षण को नहीं। 'आचारांग सूत्र' में समाधिमरण पर विस्तार से लिखा गया है। समाधिमरण की प्रक्रिया से पूर्व संलेखना है। कषायों को कम न किया गया तो अंतिम समय बहुत कष्टकर होगा, समाधिपूर्ण मृत्यु तो हो ही नहीं सकती।

आहार-संयम का भी सुखी और स्वस्थ जीवन के लिए बहुत महत्त्व है। जो व्यक्ति आहार का संयम नहीं करता वह अपनी सारी ऊर्जा पेट में ही खर्च कर देता है। जब सारी ऊर्जा पेट में ही खर्च होगी तो मस्तिष्क के लिए क्या बचेगा? ऊर्जा या तो पेट में खर्च होती है या मस्तिष्क में। शक्ति का सूत्र है—ऊर्जा का अपव्यय न हो। जो व्यक्ति पचास वर्ष के बाद अपने खान-पान में परिवर्तन कर देता है, उपवास या एकांतर करने लगता है वह कम-से-कम बीस वर्ष, अपनी उम्र बढ़ा लेता है।

मृत्यु निश्चित और अवश्यंभावी है। तो फिर क्यों न हम उसे कलापूर्ण बनाएं? ऐसी मृत्यु, जो स्वयं को भी संतोष दे और दूसरों को भी प्रेरणा प्रदान करे।

धर्म और कर्म

कुछ व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि एक व्यक्ति जो साधना नहीं करता, धार्मिक कार्य नहीं करता, यदि उस पर कोई विपत्ति आती है तो यह कह दिया जाता है कि वह धर्म नहीं करता, इसलिए कर्म का विपाक ऐसा हुआ। यदि एक साधक के साथ ऐसा होता है तो यह कह दिया जाता है कि इसके पूर्वकर्म ऐसे थे, अतः उसे यह भोगना ही पड़ेगा। क्या यह सच है?

जो-कुछ कहा जाता है वह सारा प्रमाण नहीं होता, सच नहीं होता। हमें वस्तु-सत्य पर विचार करना है। प्रश्न चाहे धर्म करने वाले का आए या धर्म न करने वाले का आए—उत्तर दो नहीं हो सकते, एक ही होगा। कर्म का जो विपाक आता है, वह किया हुआ ही आता है। धर्म करने वाले को भी कर्म का विपाक भुगतना होता है और धर्म न करने वाले को भी भुगतना होता है। यह जो कहा जाता है कि धर्म नहीं करता, इसलिए इसमें कष्ट आ गया और जो धर्म करता है उसका कष्ट पूर्व-कर्मजनित है और किए हुए को भुगतना ही पड़ेगा—यह समुचित निष्कर्ष नहीं हो सकता है। हर व्यक्ति के साथ प्रियता और अप्रियता—दोनों बातें जुड़ी हुई होती हैं। राग-द्वेष से कोई मुक्त नहीं होता। धर्म करने वाला भी वीतराग नहीं बन पाया है। उसमें राग भी है और द्वेष भी है। पहले भी था और वर्तमान में भी है। प्रियता और अप्रियता की धारा बराबर चलती है। धर्म करने वाले में कष्ट नहीं आता, यह कोई बात नहीं है। जो व्यक्ति सामाजिक जीवन जीता है, वह कष्ट से बच नहीं सकता। सामान्य धार्मिक की बात छोड़ दें, धर्म का अवतार भी कष्टों से बच नहीं सकता। धर्मगुरु को भी शरीर का कष्ट भोगना ही होगा और कभी-कभी मानसिक कष्टों का भी अनुभव करना पड़ेगा।

प्रश्न है कि हिमालय की कंदराओं में तपस्या करने वाले साधक-तपस्वी परिमित आहार करते हैं, ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वहां का वातावरण भी प्रदुषण से मुक्त होता है—फिर भी वे साधक बीमार होते हैं, ऐसा क्यों होता है?

शरीर के रुग्ण होने के अनेक कारण हैं। कहीं भी आदमी बीमार हो सकता है। साधु-साध्वियां बीमार होती

हैं। क्यों? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि सब आम-जन के घर का अन्न ही खाते हैं और बिना मिश्रण का भोजन आज मिल नहीं पाता। यह भोजन उनकी बीमारी का कारण हो सकता है। इसलिए कुछएक लोग कहते हैं कि भिक्षा-विधि बंद कर देनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध भिक्षा नहीं मिलती। भिक्षा का अन्न प्रदूषित अन्न हो सकता है, परंतु यह भी कोई समाधान नहीं है। क्योंकि सामान तो सारा बाजार से ही आएगा। साधु के लिए आकाश से तो टपकेगा नहीं। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि पेड़-पौधे भी शुद्ध नहीं रहे। इनको भी प्रदूषित वातावरण में जीना होता है। रेडियो विकिरण और अणुविस्फोट की धूलि से दूध और फल अधिक प्रभावित होते हैं। ऐसी स्थिति में बीमारी न आए—यह असंभव है। वातावरण से होने वाली बीमारी भी है। इससे साधु बच नहीं सकता। आंख की ऐसी संक्रामक बीमारियां होती हैं कि एक की लाल आंख को देखते ही दूसरा उसी बीमारी में ग्रस्त हो जाता है। इससे बचना संभव नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में यह कह देना कि धार्मिकों को बीमारी क्यों होती है—कोई अर्थ नहीं रखता। यहां धर्म करना और न करना, कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। धार्मिक और अधार्मिक—दोनों बीमारियों से ग्रस्त हो सकते हैं।

फिर प्रश्न आता है कि दोनों में अंतर क्या रहा? धर्म करने वाला भी कष्ट भोगता है, तो न करने वाला भी कष्ट भोगता है, फिर धर्म का भार क्यों ढोया जाए? इसको स्पष्ट रूप से समझ लेना है।

धर्म करने वाले को भी कष्ट आएगा—यह मान्य सत्य है। इसको झुठलाया नहीं जा सकता। किंतु धर्म करने वाले व्यक्ति की विशेषता यह होती है कि वह कष्ट आने पर गिड़गिड़ाता नहीं, रोता नहीं, घुटने नहीं टेकता, संतुलन नहीं खोता—आने वाले कष्टों को सहर्ष झेल लेता है। वह उन्हें प्रसन्नता से सहता है और अपनी शांति को नहीं खोता। जिस व्यक्ति में धर्म की चेतना नहीं होती, अध्यात्म का अनुभव नहीं हो जाता—वह कष्टों को झेल नहीं पाता, घुटने टेक देता है, दीन-हीन हो जाता है। उसकी नींद हराम हो जाती है, समय तनाव में बीतता है। क्या यह कम अंतर है? धार्मिक व्यक्ति कष्टों को निमंत्रण देता है, सहता है और अपनी प्रसन्नता भी बनाए रखता है। धर्म नहीं करने वाला कष्टों से घबरा जाता है, सुस्त हो जाता है। उसका रक्त सूख जाता है। वह अनायास ही अन्यान्य बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। यह बड़ा अंतर है। दूसरी कोई भेद-रेखा नहीं है। भेद करने वाला विकल्प नहीं होता। यदि भेद का विकल्प होता कि धर्म करने वाले को कष्ट नहीं आएगा और धर्म नहीं करने वाले को कष्ट आएगा तो आज अधार्मिक कोई रहता ही नहीं। सब धर्ममय हो जाते, धर्म की शरण ले लेते। पर ऐसा होता नहीं है। धार्मिक व्यक्ति भी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक संकटों से गुजरता है, उसे अन्यान्य कष्ट भी आते हैं। यह एक बात है और दूसरी बात है कि वह व्यक्ति कष्टों को निमंत्रण भी देता है।

मुनियों में एक वर्ग ऐसा होता है जो जिनकल्प की साधना करता है। वह मुनि कष्टों को निमंत्रण देता है। वह कष्टों से घबराता नहीं। सामने सिंह आ रहा है, वह साधक भागेगा नहीं, अपने मार्ग से हटेगा नहीं, चलता जाएगा। वह खतरे को टालने का प्रयत्न नहीं करेगा। यह साहस की पराकाष्ठा है। आमरण अनशन—संथारा करने वाले भी मौत को निमंत्रण देते हैं। क्या यह कम साहस का कार्य है? वह मौत से कहता है—आओ, आओ! सहर्ष अभिनन्दन करता हूं। यह है धार्मिक आदमी का धैर्य और संतुलन।

हम इस तथ्य को यथार्थ रूप में समझें कि कष्ट होना या न होना धार्मिक और अधार्मिक की भेदरेखा नहीं है। कष्ट धार्मिक में भी आता है और अधार्मिक में भी आता है। बस, अंतर इतना आएगा कि धार्मिक व्यक्ति में इतनी सहिष्णुता बढ़ जाती है कि वह कष्ट को कष्ट नहीं मानता, उसे प्रसन्नता से स्वीकार करता है। अधार्मिक ऐसा कर नहीं पाता। यही बड़ा अंतर है। एक ओर समता और क्षमता, दूसरी ओर ममता और कायरता। केवल 'स' और 'म' का अंतर है। जो धर्म में विश्वास नहीं करता, उस व्यक्ति का शरीर और पदार्थ के प्रति ममता का प्रबल भाव होता है। जो धर्म में विश्वास करता है—उस व्यक्ति का भाव शरीर, परिवार और पदार्थ के प्रति समता का होता है। कितना बड़ा अंतर आ गया?

महावीर को साधना-काल में कष्ट हुए थे। उन्होंने सब कष्टों को झेला। वे पथ से विचलित नहीं हुए। क्योंकि उनको समता प्राप्त थी। कष्ट आया तो मन की वही स्थिति और न आया तो भी मन की वही स्थिति। उनकी मनःस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता था। परिवर्तन आता है—व्यामोह के कारण। मूर्च्छा जितनी गहरी होती है, उस व्यक्ति को उतना ही अधिक कष्ट होता है। मूर्च्छा के कारण मतिभ्रम होता है और तब व्यक्ति विचलित हो जाता है। कुंभकर्ण ने तपस्या की। इंद्र का आसन डोला। उसने कुंभकर्ण में मतिभ्रम पैदा कर दिया। इंद्र ने कुंभकर्ण से कहा—'वरदान मांगो।' कुंभकर्ण को मांगना था—'इन्द्रासनं देहि', किंतु मतिविभ्रम के कारण मुंह से निकल गया—'निद्रासनं देहि'। अवसर का लाभ उठाते हुए

इंद्र ने तत्काल कहा—'तथास्तु!' उसी दिन से कुंभकर्ण छह महीने सोने लग गया और कुंभकर्णी नींद प्रसिद्ध हो गई। वह वर्ष में दो ही दिन जागता। उसके लिए पूरा वर्ष दो ही दिन का होता था।

यह सारा व्यामोह और मतिभ्रम का परिणाम है। मूर्च्छा का चक्र विचित्र होता है। मति और बुद्धि का विपर्यय होता है, तब आदमी सोचता कुछ है और हो कुछ और ही जाता है। वह कहना कुछ चाहता है और कह कुछ और ही देता है।

दैत्य और देवों में संग्राम हो रहा था। दैत्यराज मंत्र की आराधना करने बैठा। उसे शक्ति प्राप्त करनी थी। मंत्र का अधिष्ठाता देव उपस्थित होकर बोला—'मांग, जो चाहे सो मांग ले।' उसको मांगना था—'इंद्रशत्रुर्वर्धस्व' और मांग लिया—'इंद्रः शत्रुर्वर्धस्व'। मांगना था—इंद्र का शत्रु—मैं—बढ़ूं, मेरी शक्ति बढ़े और उसने मांग लिया—इंद्र, जो मेरा शत्रु है, वह बढ़े। सारा उल्टा हो गया। यह सारा मूर्च्छा के कारण होता है।

कष्ट होना, न होना धार्मिक या अधार्मिक का अंतर नहीं है। धार्मिक या अधार्मिक का अंतर है—समता और ममता का। धार्मिक में समता का विकास होता है और अधार्मिक में ममता का विकास होता है।

एक प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि क्या धर्म से प्रारब्ध—भाग्य को बदला जा सकता है?

धर्म से चेतना को बदला जा सकता है, और कुछ नहीं। धर्म का कार्य है चित्त को पवित्र करना, चेतना को रूपांतरित करना। प्रारब्ध—भाग्य को बदलना धर्म का कार्य नहीं है। आचार्य भिक्षु ने धर्म के विषय में जितना स्पष्ट दृष्टिकोण दिया, उतना अन्य किसी आचार्य ने नहीं दिया। उन्होंने इतने महत्त्वपूर्ण लौकिक सूत्र दिए जो आज के युग में बहुत मूल्यवान हैं। उन्होंने कहा, धर्म है—संवर और निर्जरा। धर्म का एक काम है कर्मों को रोकना। प्रारब्ध का निर्माण करना या बदलना धर्म का काम नहीं है। धर्म का दूसरा काम है—कर्मों को तोड़ना। जो पूर्व-संचित कर्म हैं, उनको क्षीण करना। बस, धर्म के ये दो ही काम हैं—संवर और निर्जरा। पुण्य का होना या अच्छा फल मिलना—यह धर्म का कार्य नहीं है। फिर भी लोग कह देते हैं—धर्म से पुत्र मिला, धन मिला आदि-आदि। यह सब धर्म के कार्य नहीं हैं। ऐसा कहा जाना केवल साहचर्य के कारण होता है। यह साहचर्य का परिणाम है। साथी होने के कारण इधर का भार उधर और उधर का भार इधर डाल दिया जाता है। एक साथी की अच्छाई या बुराई दूसरे साथी पर आरोपित कर दी जाती है। शरीर और मन की प्रवृत्तियां कुछ अच्छी होती हैं और कुछ बुरी होती हैं। इससे पुण्य, पाप का बंध होता है। किंतु यह पुण्य का बंध धर्म का काम नहीं है। आचार्य भिक्षु ने पुण्य के विषय में एक बात जो कही, वह अन्यान्य आचार्यों के कथन से भिन्न पड़ती है—पर है यथार्थ। आचार्य भिक्षु ने कहा—'पुण्य का बंध निर्जरा के साथ होता है, किंतु निर्जरा से पुण्य का बंध नहीं होता।' कितना अंतर है! पुण्य का बंध निर्जरा से नहीं, निर्जरा के साथ होता है। अनाज से 'खाखला' नहीं होता, अनाज के साथ-साथ 'खाखला' होता है। यह साहचर्य, साथ में होना। जहां धर्म है, निर्जरा है—वहां उसके साथ-साथ पुण्य का बंध भी होता है। उस बंध से अच्छे फल मिलते हैं।

धर्म का काम है कर्म को रोकना, कर्म को तोड़ना। धर्म से बुरे कर्म भी टूटते हैं तो अच्छे कर्म भी टूटते हैं। धर्म कर्ममात्र को तोड़ने का साधन है। फिर कर्म अच्छे हों या बुरे।

धर्म की प्रकृति और कर्म की प्रकृति एक नहीं हैं। ये दोनों साथ हैं—पर हैं धूप-छांह की भांति। धूप और छांह साथ ही होते हैं, पर धूप में छांह नहीं और छांह में धूप नहीं है। दोनों सटे हुए हैं, पर एक नहीं हैं। दोनों समानांतर रेखा की भांति चलते हैं। कहीं भी बीच में अंतराल नहीं है, किंतु दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है। कर्म पौद्गलिक है। उसका लौकिक अस्तित्व स्वतंत्र है। धर्म चेतना की प्रवृत्ति है। उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। धर्म से न पुण्य का बंध होता है और न पाप का बंध होता है। धर्म अबंधक है। आचार्य 'लोक-भावना' का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं—

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकिताचातुरी सुस्वरत्वम्
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धि,
किन्तु ब्रूमः फलतपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य।।

सब-कुछ धर्म से ही मिलता है। पत्नी, पुत्र, धन, परिवार, हाथी-घोड़ा सब धर्म से ही मिलते हैं। कितनी गलत धारणा! मिथ्या धारणा! इसी मिथ्या धारणा के वशीभूत होकर लोग धर्म करते हैं—जिससे धन मिल जाए, बेटा मिल जाए। यदि कुछ करते हैं और मिल जाता है तो धर्म के प्रति आस्था बढ़ती है, अन्यथा नास्तिकता आ जाती है। वे भगवान और धर्म को गालियां देने लग जाते हैं और अंतिम समय तक नास्तिक बने रहते हैं। यह भ्रांति उन्हें

नास्तिकता में ढकेल देती है। गलत मान्यता बहुत खतरनाक होती है। किसी को गलत बात मत बताओ। वह आत्मघाती प्रवृत्ति है। अच्छी नीति से भी गलत बात कहना खतरा पैदा कर देता है।

लड़के ने मां के लिए एक हजार की साड़ी भेजी। उसने सोचा, इतनी कीमती साड़ी को देखकर मां उलाहना देगी। इस उलाहने से बचने के लिए उसने पत्र में लिखा—यह बढ़िया साड़ी दो सौ रुपये में मिल गई थी। भेज रहा हूं। मां ने साड़ी देखी। बढ़िया साड़ी इतना मूल्य! अचानक एक पड़ोसिन आई। उसने साड़ी देखी। मन ललचा गया। 'क्या यह साड़ी मुझे दोगी? कितने रुपयों में होगी?' चार सौ में पड़ोसिन ने साड़ी ले ली, चार सौ रुपये दे दिए। मां ने बेटे को पत्र लिखा—तुमने जो साड़ी भेजी थी, मैंने उसे चार सौ में बेच दी है। दुगुने रुपये आ गए हैं। बेटे ने पत्र पढ़ा और सिर धुनने लगा। मां कहती है कि दो सौ नफा, और हुआ है छह सौ का नुकसान। झूठी बात सर्वत्र खतरे पैदा करती है।

धर्म का कार्य चेतना को पवित्र करना, मन और आचरण को शुद्ध करना, व्यवहार को विशुद्ध बनाना, जीवन को पवित्र और शांतिमय बनाना है और धारणा यह हो गई कि धर्म से धन मिले, बेटा-पोता मिले, आदि-आदि। धर्म को स्वार्थ और पदार्थ के साथ जोड़ दिया, वासनाओं और आकांक्षाओं के साथ जोड़ दिया। उससे धर्म की असली आत्मा लुप्त हो गई और भ्रांतियां पनप गईं।

मैं मानता हूं कि आचार्य भिक्षु का यह क्रांतिकारी कदम था कि उन्होंने बेहिचक उद्घोषणा की कि धर्म से पदार्थ-लाभ नहीं होता। पुण्य का बंध धर्म से नहीं होता। वह धर्म के साथ होता है, पर धर्म से नहीं होता। यह केवल श्रद्धागम्य वचन नहीं है। मैंने इसकी गवेषणा की है, फिर इसे स्वीकारा है। सही गवेषणा के बिना गुरु उपलब्ध नहीं होता। गुरु का भी धोखा होता है तो भगवान और धर्म का भी धोखा होता है। भगवान, धर्म और गुरु पर भी आरोपण होता है।

हम सत्य के प्रति जिज्ञासु बनें। हमारे में सत्य की जिज्ञासा जागे। सत्य को कोई प्राप्त कर नहीं सकता। न मैं, न गुरुदेव तुलसी और न महावीर और बुद्ध। सत्य स्वयं को ही खोजना होगा। सभी ऋषियों ने यही कहा—'स्वयं सत्य को खोजो।' जो सत्य की खोज में निकल पड़ता है, उसे सत्य का दर्शन होता है। ध्यान का प्रयोजन यही है कि व्यक्ति में सत्य की जिज्ञासा और खोज जागे। जो बर्तन औंधा पड़ा है, उसका मुंह सीधा हो जाए। नल के नीचे बर्तन औंधा रख दें, दो-चार घंटा पड़ा रहे, पर भीतर एक बूंद भी नहीं आ पाएगी। उसको सीधा कर दें, वह पानी ग्रहण कर लेगा, भर जाएगा।

धर्म का काम है व्यक्ति को ग्रहणशील बना देना। जो बर्तन औंधा पड़ा है, उसे सीधा कर देना। धर्म से प्रारब्ध को इस अर्थ में बदला जा सकता है कि उससे अच्छे-बुरे कर्म तोड़े जा सकते हैं। यदि वृत्तियां अच्छी होती हैं, भावना शुद्ध होती है तो उनके साथ-साथ प्रारब्ध नष्ट हो जाता है, टूटता है। धर्म का काम है निर्जरा, तोड़ना। जब कर्म टूटता है तो प्रारब्ध भी बदलता है।

प्रारब्ध फल देता भी है और फल नहीं भी देता—यह अनेकांत है। यदि कर्म किया और उसे वैसा ही रहने दिया, साथ में पवित्र भाव नहीं आए तो प्रारब्ध अपना फल देगा। धर्म से कर्म टूटा तो प्रारब्ध भी बदला।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इन तीनों के विषय में विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों ने बहुत चिंतन किया है। क्या मैं ज्ञेय को जानता हूं? उत्तर होगा—नहीं जानता। फिर प्रश्न होता है—क्यों नहीं जानता? इसलिए नहीं जानता कि ज्ञेय कोरा पदार्थ होता है—पुद्गल केवल पुद्गल होता है। चेतन चेतन, आत्मा आत्मा और जड़ जड़—उसको कहां जान पाता हूं? कोई भी पदार्थ जड़ या चेतन सामने आते ही प्रियता या अप्रियता सामने आ खड़ी हो जाती हैं। अप्रियता उगते ही हेय सामने आ जाएगा और प्रियता सामने आते ही उपादेय सामने आ जाएगा। सामने तो हेय और उपादेय आते हैं। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। हमने केवल आरोपण कर रखा है। हम अपने आरोपण को जानते हैं, ज्ञेय को कहां जान पाते हैं? हम वास्तव में पदार्थ को नहीं जानते।

साधना का अर्थ है—ज्ञेय को जानना। ज्ञेय को ज्ञेय बुद्धि से जानना और उपादेय तथा हेय बुद्धि को दूर रखना। यह है अध्यात्म की साधना।

इस साधना को प्राप्त करने के लिए दृष्टिकोण का सही होना आवश्यक है।

वास्तव में हम धर्म, अध्यात्म और ध्यान का मूल्यांकन करें, दृष्टिकोण को सही बनाएं। ऐसा होने पर ही समाधान का मार्ग मिल सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो अनादि-अनंत का चक्र चलता आया है, चलता ही रहेगा।

धर्म की कसौटी

इस दुनिया में सब-कुछ बदलता है। इसके साथ कुछ शाश्वत भी है, पर हमारी आंखों के सामने अशाश्वत का चक्र अधिक घूमता है। हजारों-हजारों वर्षों से धर्म चल रहा है। उसमें कुछ बदला भी है। आज भी उसमें कुछ परिवर्तन अपेक्षित लग रहे हैं। यह अपेक्षित इसलिए है कि विगत शताब्दी में ऐसे महापुरुष हुए, जिन्होंने पूरी मानवजाति को प्रभावित किया है। जिन्होंने अपने विचारों से, दर्शन से बहुत प्रभाव डाला है। इस परिप्रेक्ष्य में धर्म के बारे में भी कुछ नई बात लाने की जरूरत है। धर्म की धारणा को बदलने की अपेक्षा है। धर्म की कसौटियों पर भी विचार आवश्यक है। जलते-जलते आग बुझ जाती है, ज्योति राख से ढक जाती है। चलते-चलते पानी रुक जाता है और वह जगह कीचड़ में तब्दील होने लग जाती है। चलते-चलते जब नहर का पानी धीमा हो जाता है, तब उसे गतिमान करने के लिए पीछे से वेग दिया जाता है। क्या धर्म के क्षेत्र में ऐसी आवश्यकता नहीं है? उत्तर होगा, अत्यंत आवश्यक है।

अणुव्रत आंदोलन ने धर्म की कसौटी पर विचार करने की बात समाज के सामने रखी। उसने कहा—उपासनात्मक धर्म को ही धर्म मानना पर्याप्त नहीं है। संयम को धर्म मानना आवश्यक है। उपासनात्मक धर्म व्यर्थ नहीं है, पर उसे धर्म की कसौटी मान लेना भ्रांति है। आज का धार्मिक केवल क्रियाकांड को ही धर्म मानकर धर्म की मूल बात को भुला देता है। वह उसी में संतोष कर लेता है। संतोष करने की यह बात खतरनाक है।

आज धार्मिक क्षेत्र में धर्म की उपासनात्मक कसौटी को प्रमुखता दी जा रही है। अपेक्षा यह है कि उस कसौटी को गौण कर संयम की कसौटी को मुख्यता देनी चाहिए। इस आधार पर पूछा जाए कि धार्मिक कौन? तब इसका उत्तर होगा—जिस व्यक्ति में संयम है, वह धार्मिक है और जिसमें संयम नहीं है, वह धार्मिक नहीं है। आज धर्म कुछ रूढ़ हो गया है। कुछ त्याग किया और धर्म हो गया। आज उसे नया रूप देने की आवश्यकता है। आज की भाषा में संयम का नया रूप उभरा है। आज धर्म और मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में संयम को 'विल पॉवर' से नापा जाता है। व्यक्ति में नियंत्रण की शक्ति का विकास कितना है। जिस व्यक्ति में 'विल पॉवर' नहीं होती वह अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। उसी व्यक्ति में व्यक्तित्व का विकास होता है, जिसमें नियंत्रण की क्षमता होती है।

हमारी चार शक्तियां हैं—1. शरीरबल, 2. मनोबल, 3. बुद्धिबल, 4. भावनाबल। वर्तमान युग में बुद्धिबल के विकास के सारे साधन जुटाए जा रहे हैं। शिक्षा जगत् इसके लिए पूरा प्रयत्नशील है। पर क्या व्यक्तित्व की सफलता के लिए तथा शांत और सुखी जीवन के लिए बुद्धि का विकास पर्याप्त है? नहीं, यह अपर्याप्त है, अधूरा है। जिनमें मनोबल विकसित नहीं होता, वे विद्वान् परिस्थिति के समक्ष घुटने टेक देते हैं। सर्वत्र बुद्धि काम नहीं देती, उसकी भी एक सीमा है। यदि बुद्धिबल ही सब-कुछ होता तो एक वैज्ञानिक कभी आत्महत्या नहीं करता। पढ़े-लिखे लोग कभी अशांत जीवन नहीं जीते। मनोबल के अभाव में आदमी प्रतिकूल परिस्थिति में लड़खड़ा जाता है, आवेश से भर जाता है। नियंत्रण की क्षमता नहीं होने पर ऐसा होता है। अतः कोरा बुद्धिमान होना पर्याप्त नहीं है। जिसमें अपने आवेश और इच्छा पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं होती, वह सफल जीवन कभी नहीं जी सकता। वही व्यक्ति शक्तिशाली हो सकता है, शक्ति और शांति का जीवन जी सकता है, जिसमें अपने मन में उठने वाली तरंगों और विचारों पर, तूफानी बवंडर पर नियंत्रण पाने की क्षमता होती है।

प्राचीन आचार्यों ने छह प्रकार की मस्तिष्क तरंगों का उल्लेख किया है—मद, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, माया। मस्तिष्क के अगले हिस्सों में से तरंगें उठती हैं और जो व्यक्ति इन पर नियंत्रण नहीं रख पाता, वह प्रत्येक तरंग के आगे घुटने टेक देता है। तरंगों का चक्र चलता रहता है। व्यक्ति संभल नहीं पाता।

धर्म की कसौटी है—संयम। इससे पागलपन दूर होता है। न जाने क्यों मान लिया गया कि इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहिए। हजारों-हजारों वर्षों का धर्म का जो अनुभव था, उसे उलटने का एक साथ प्रयास हुआ और धर्म की मान्यताएं विकृत हो गईं। इच्छाएं अनंत हैं। उन पर यदि नियंत्रण नहीं किया जाता है तो आदमी को न जाने कितने कष्ट भोगने पड़ते हैं।

मनोबल का विकास तब तक नहीं हो सकता, जब तक इच्छाओं पर नियंत्रण करने की बात नहीं आती। मन में इच्छा उठी कि मुझे खाना है। आप संकल्प करें कि मैं नहीं खाऊंगा। दो घंटा तक नहीं खाऊंगा। मन में इच्छा उठी कि मुझे ठंडा पेय पीना है। संकल्प करें कि मैं ठंडा पेय नहीं पीऊंगा, मिठाई नहीं खाऊंगा। इच्छा को रोकते चले जाएं। मन की चाह को

प्रतिबंधित करते रहें, एक ही माह में आपका मनोबल इतना बढ़ जाएगा कि आप मन के स्वामी बन जाएंगे। वास्तव में मन है तो हमारा सेवक, पर आज वह हमारा स्वामी बन बैठा है। मन स्वामी है और आत्मा या चेतना उसकी दासी बन गई है। स्थिति उल्टी हो गई। जब व्यक्ति को अपना भान नहीं होता है, तब ऐसी ही स्थिति बनती है। मालिक नौकर बन जाता है और नौकर मालिक बन जाता है।

हम इच्छाओं के दास नहीं हैं। हम इंद्रियों के गुलाम नहीं हैं। हम उनके स्वामी हैं। अपने स्वामित्व के अस्तित्व को अनुभव करने का अर्थ है संयम। इच्छाओं के वशवर्ती आदमी को मैंने कहा—इच्छाओं पर नियंत्रण करो। उसने कहा—महाराज! आप ही तो कहते हैं कि जीवन नश्वर है। आदमी को एक दिन मरना ही पड़ेगा। मैं यहां अमर तो नहीं रहूंगा। फिर यदि इच्छाओं को पूरी करता हुआ मरूं तो इसमें हानि ही क्या है? यह मृत्यु यदि पांच-दस वर्ष पहले आ जाएगी तो क्या फर्क पड़ेगा? कितना बड़ा त्याग! कितनी बड़ी विडंबना! इच्छाओं की पूर्ति के लिए मरण का वरण करने की तैयारी।

जीवन को चूसने वाली दो बाते हैं—अब्रह्मचर्य और जीभ की लोलुपता। इन दोनों की उच्छृंखलता जीवन के रस को निचोड़ डालती है। व्यक्ति समझ ही नहीं पाता और धीरे-धीरे जीवन का रस चुक जाता है। जो व्यक्ति खाद्य-संयम करता है, वह लंबे समय तक युवा रह सकता है। गुरुदेव श्री तुलसी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वे चार बजे उठते थे और रात के ग्यारह-बारह बजे तक कार्यरत रहते। वे इस प्रकार स्फूर्ति के साथ अठारह घंटे तक कार्य कर सकते थे। उनकी वाणी में वही तेज, आकृति में वही ओज। इसका मूल कारण है खाद्य-संयम। यदि यह नहीं होता तो वे इतनी लंबी पदयात्राएं, इतना बोलना, इतना जन-संपर्क करना, इतना श्रम करना, कदापि नहीं कर पाते।

जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है भोजन। अधिकतर महिलाएं रसोई बनाती हैं, पर वे रसोई-विज्ञान से अनभिज्ञ रहती हैं। आश्चर्य है कि लोग इसके विषय में बहुत-कुछ जानने का दावा करते हैं। वे तो यही समझते हैं कि भोजन का बाह्य रूप-रंग अच्छा होना चाहिए। भोजन स्वादिष्ट होना चाहिए। उनकी दृष्टि में भोजन की दो ही कसौटियां हैं—देखने में अच्छा हो, खाने में स्वादिष्ट हो। प्रायः आदमी आटे से चोकर निकालकर बाहर फेंक देता है। इसका अर्थ हुआ कि वह सार चीज फेंक देता है और निस्सार चीज खाता है। चोकर-मिश्रित आटे की रोटी इतनी मुलायम नहीं होती, पर खाने में स्वादिष्ट लगती है और लाभदायक बहुत होती है। चोकररहित आटे की रोटी या पूड़ी मुलायम होती है, खाने में स्वादिष्ट लगती है, पर हानिकारक होती है, आंतों को बिगाड़ती है, अनेक रोग उत्पन्न करती है। चोकर निकाल देने के बाद आटे में कुछ सार नहीं बचता। जिसमें खाद्य-संयम और वासना का संयम आ जाता है—वह धार्मिक कहा जा सकता है। जिनमें ये दोनों संयम नहीं होते, उन्हें धार्मिक कहना कठिन है। मनोबल इन दोनों के संयम से ही बढ़ सकता है। इन दोनों के अभाव में जीवन की लगाम हाथ में नहीं रहती। आदमी का जीवन बिना लगाम का चल रहा है। वह इतना उच्छृंखल हो गया है कि पता नहीं वह आदमी को कहां ले जाकर पटकेगा।

लोग धर्म के विषय में चर्चा करते हैं। वे धर्म की पुस्तकें पढ़ते हैं। उनमें धर्म-प्रवचन सुनने की रुचि भी है। वे धर्म के क्रियाकांड भी करते हैं। पर जिस व्यक्ति ने मन को एकाग्र करना नहीं सीखा, इच्छाओं पर नियंत्रण करना नहीं जाना, श्वास का संयम करना नहीं सीखा और इनके द्वारा मनोबल का विकास करना नहीं सीखा—वह धर्म-प्रेमी हो सकता है, पर सच्चे अर्थ में धार्मिक नहीं हो सकता।

आदमी धर्म की कसौटियों को ठीक से समझे। मनोबल का विकास करे। यदि हमारा चिंतन सही होगा तो धर्म के नए-नए आयाम खुलते जाएंगे।

धर्म की मंजिल

प्रश्न है—मंजिल क्या है? धर्म का लक्ष्य क्या है?

धर्म का लक्ष्य या धर्म की मंजिल है—समता। समता का जीवन जीने वाले लोग हमारी दुनिया में बहुत कम हैं। जो व्यक्ति कठिन परिस्थितियों, विफलताओं और निराशा के वातावरण को झेलने की तैयारी नहीं रखता, वह जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। सफलता का रहस्य है—प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलने के लिए तैयार रहना। समता का मतलब है—सुख-दुख, लाभ-अलाभ आदि सब स्थितियों में समत्व का अनुभव करना। कहा है—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु तहा माणावमाणओ।।

लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान—इन सब स्थितियों में हमारे चित्त की समस्थिति रहती है, संतुलन रहता है; यही वास्तव में धर्म की

मंजिल है। यह स्थिति धर्म के सिवाय भौतिक वातावरण में कभी संभव नहीं है।

प्रतिकूल परिस्थिति में सम रहना बहुत जटिल बात है। जो व्यक्ति धार्मिक होता है, जिसके जीवन में धर्म उतरता है—मैत्री, करुणा, अहिंसा, अपरिग्रह, प्रामाणिकता, नैतिकता, ईमानदारी—विशुद्ध धर्म जीवन में उतरता है; वही व्यक्ति समता की अनुभूति में जा सकता है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में समान अनुभव कर सकता है, सम रह सकता है। उसे कोई विचलित नहीं कर सकता, विषम नहीं बना सकता।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत एकनाथ गोदावरी में स्नान करके आ रहे थे। झरोखे में से एक व्यक्ति ने संत एकनाथ के सिर पर थूक दिया। संत एकनाथ पुनः नदी में स्नान करने गए। जब वापिस लौट रहे थे तो उसी व्यक्ति ने फिर संत के सिर पर थूक दिया। इक्कीस बार तक यह क्रम चलता रहा। आखिर वह व्यक्ति थक गया और उसका मन भी बदल गया। बाईसवीं बार जब संत एकनाथजी आ रहे थे, तब वह व्यक्ति नीचे उतरा। आकर एकनाथजी के पैर पकड़ लिए और कहने लगा—'मुझे क्षमा करना, मैंने बड़ा अपराध किया है।' संत एकनाथ अपनी प्रसन्न मुद्रा में थे। उन्होंने कहा—'तुमने बड़ा उपकार किया है, सदा मैं एक बार गोदावरी के जल में स्नान करता हूं, आज तुमने इतना पुण्य-लाभ दिया कि इक्कीस बार गोदावरी माता के जल से स्नान करवा दिया। तुम मेरे सहयोगी हो। मैं तुम्हें क्या क्षमा करूं।' वह बेचारा देखता रह गया। उसने सोचा—कैसा विचित्र व्यक्ति है यह! ऐसा व्यवहार करने पर भी गुस्सा नहीं, क्रोध नहीं, अपशब्द नहीं, अभिशाप नहीं, कुछ भी नहीं। वही शक्ति, वही निर्मलता, वही पवित्रता तथा वही मुसकान, किंचित् भी अंतर प्रतीत नहीं हुआ। जिस व्यक्ति में धर्म की चेतना नहीं जागती, उसमें ऐसी स्थिति का निर्माण नहीं हो सकता।

जो लाभ भौतिकता के द्वारा नहीं मिलता, वह धर्म के द्वारा मिलता है। अगर धर्म के द्वारा कोई अतिरिक्त लाभ न मिले तो धर्म करें या न करें—कोई अंतर नहीं। तर्कशास्त्र का नियम है कि स्वतंत्र द्रव्य वही माना जाता है, जिसमें अतिरिक्त गुण होता है। जिसमें सामान्य गुण है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। स्वतंत्र अस्तित्व उसी का होता है जिसमें असाधारण गुण होता है। जो बात भौतिक पदार्थ से मिलती है, वही अगर धर्म से मिले तो धर्म और भौतिक पदार्थ में कुछ अंतर नहीं रहता। जो भौतिक पदार्थ से न मिले और केवल धर्म से ही मिले, तभी अतिरिक्त बात होगी। यह अतिरिक्त बात है कि भौतिक पदार्थ से कभी रास्ता नहीं मिलता। भौतिकता का काम है—विषमता पैदा करना। यदि भौतिक जगत् में एक आदमी छोटा और एक आदमी बड़ा नहीं होता तो भौतिकता का मतलब ही नहीं।

धन और भौतिक द्रव्य की प्रकृति है—विषमता पैदा करना। यदि विषमता न हो तो भौतिकता की प्रकृति ही बदल जाएगी। परंतु न तो भौतिकता की प्रकृति बदलती है और न विषमता मिटती है। यह पदार्थ की प्रकृति है कि वह विषमता पैदा करता है। समता की बात केवल धर्म के क्षेत्र में ही संभव है। दुनिया के इतिहास को देखते हैं तब पता चलता है कि जिन लोगों के जीवन में धर्म उतरा है, वे समता में गए। यह देश-कालातीत सत्य है। आचार्य हेमचंद्र ने भगवान् महावीर के लिए लिखा—

पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि।
निर्विशेषमनस्काय श्रीवीरस्वामिने नमः।।

उस महावीर को नमस्कार करता हूं जिसमें समता का अवतरण हो गया, समदृष्टिकोण आ गया। भगवान ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। चंडकौशिक सांप ने भगवान को काटा। इतना तेज प्रहार किया कि शायद महावीर की जगह कोई दूसरा व्यक्ति होता तो मर जाता। महावीर को भयंकर कष्ट हुआ। दूसरी ओर इंद्र ने आकर वंदना की, पैरों में सिर टिकाया। पर महावीर की दृष्टि दोनों के प्रति समान थी। न चंडकौशिक के प्रति रोष का भाव और न इंद्र के प्रति अनुग्रह का भाव। दोनों के प्रति करुणा के भाव जाग्रत् हो गए।

धर्म की मंजिल परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है—जिसे प्राप्त किया जा सकता है। पर उसके लिए एक शर्त है, वह है—अभ्यास। अभ्यास के बिना मंजिल तक नहीं पहुंचा जा सकता। मंजिल तक पहुंचने के लिए प्रयत्न आवश्यक है। विषमता और समता—इन शब्दों में कोई ज्यादा अंतर नहीं है। 'वि' को दूर करने पर शेष समता ही रहता है। पर वास्तव में इतनी दूरी है कि आदमी समता की अपेक्षा विषमता में चला जाता है। समता का आचरण होना बड़ा मुश्किल है। धर्म की मंजिल को पाने के लिए दृढ़ संकल्प व समता का अभ्यास करना जरूरी है।

इसको सम्यक् रूप में समझने का प्रयत्न करें। जब समता की मंजिल प्राप्त होगी, तब सचमुच धर्म की मंजिल प्राप्त होगी और हमारा लक्ष्य निस्संदेह पूरा होगा। ❖

जैन दर्शन के ये सिद्धांत पहली नजर में आधुनिक अर्थशास्त्र और मनुष्य की मान्य विचारधारा के विपरीत प्रतीत हो सकते हैं। उपभोग-संयम के इन नियमों को भौतिक विकास की प्रचलित विचारधारा में अपवाद भी समझा जा सकता है। प्रश्न प्रचलित विचारधारा के अनुरूप अथवा अपवाद होने का नहीं है—प्रश्न है कि क्या उपभोग-परिसीमन एवं संयम व्यक्तिगत एवं सामुदायिक हित-चिंतन के उच्चतर प्रतिमान दर्शाते हैं? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में है, तो महावीर के इन सिद्धांतों को सार्वकालिक कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

❑❑

महावीर का अर्थशास्त्र—उपभोग का संयम

❑ *माणकचंद सिंघी* ❑

जैन दर्शन में अर्थ की स्वीकृति भी है और अस्वीकृति भी। अर्थ की स्वीकृति तभी है जब अर्थ का उपार्जन सात्त्विक है, संरक्षण और संवर्धन सामुदायिक है और उसका उपभोग संयमित है। अन्य दर्शनों में भी उपार्जन की सात्त्विकता और उसकी लोकोपयोगिता को महत्त्व दिया गया है। दान की महिमा लगभग सभी दर्शनों ने स्वीकार की है। भर्तृहरि ने अर्थ के दान, भोग और नाश—ये तीन ही आयाम माने हैं। जैन दर्शन में भी आहार, औषध, शास्त्र एवं अभय—ये चार प्रकार के दान गिनाए हैं। इन्हें संयोग कहें या कुछ और, इन चारों को ही आज के अर्थशास्त्र के अनुसार सामुदायिक पदार्थों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनको उपलब्ध करवाना समाज एवं शासन का दायित्व माना जा सकता है। मनुस्मृति भी अर्थ के उपयोग की षट्खंडीय धारणा प्रतिपादित करती है।

महावीर के सिद्धांतों की अर्थशास्त्रीय विवेचना करते हुए लेखक ने पिछले अंक में यह स्पष्ट कर दिया था कि भगवान महावीर ने सायास 'अर्थशास्त्र' की रचना नहीं की। लेकिन उनके प्रवचनों से इस दृष्टि से भी मार्ग-दर्शन पाया जा सकता है। पिछले अंक में 'उत्पादन की प्राथमिकताओं' पर इसी दृष्टि से श्री सिंघी का विश्लेषण पाठकों ने पढ़ा था। इसी कड़ी में यह दूसरा आलेख—

व्यक्तिगत स्वामित्व के रूप में अर्थ (लक्ष्मी) को सभी दर्शनों ने अस्थिर एवं चंचला कहा है। अतः उसका सात्त्विक अर्जन एवं संयमित उपयोग और इस संबंध में दिशा-निर्देश आध्यात्मिक दर्शनों की मान्यताओं के अनुरूप ही कहे जा सकते हैं। केवल चार्वाक का दर्शन ही इसका अपवाद नजर आता है। लोभ, लालसा अथवा तृष्णा को सभी दर्शनों में एक अंधकूप के समकक्ष माना है। संतोष ही शांति एवं सुख का पर्याय कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में महावीर भी कहते हैं कि तृष्णा का कोई अंत नहीं है।

परिग्रह, संग्रह, अधिकार एवं उपभोग मनुष्य की प्रवृत्ति है। अर्थ के उपार्जन का हेतु भी शायद उपभोग ही है और उपार्जन की संप्रेरणा भी उपभोग ही है। पदार्थ अथवा सेवाओं के उत्पादन अथवा प्रदाय का आधार भी उपभोग ही है। बाजार-व्यवस्था में उपार्जन व्यक्ति की उपभोग अधिकारिता निश्चित करता है और सामान्य परिस्थितियों में यह उसके उच्चतम उपभोग की सीमा भी होता है।

जैन दर्शन मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं—जिसमें उसके शरीर एवं इंद्रियों की आवश्यकताएं शामिल हैं—को अस्वीकार नहीं करता। ये आवश्यकताएं देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनीय हैं। एडम स्मिथ ने भी कहा—'आवश्यकताओं से मेरा अभिप्राय जीवित रहने की जरूरी चीजों से नहीं है—सामाजिक ढांचे के अनुसार न्यूनतम

वर्ग के लोगों के पास जिन चीजों का नहीं होना बुरा समझा जाता है, वे सभी चीजें इसमें शामिल हों'। जैन दर्शन भी व्यक्ति की आकांक्षाओं से उत्पन्न आर्थिक विषमताओं व असमानता को एक सीमा के बाद उचित नहीं ठहराता। आवश्यकताओं के परिमाण को व्यक्ति के स्वनिर्णय के अनुसार अपनी दिनचर्या में स्थान दिया जाना इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

जैन धर्म में 'श्रावक के बारह व्रत' बताए गए हैं। इनमें अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत शामिल हैं और श्रावक के उपयोग की दैनिक वस्तुओं के परिसीमन को इनमें प्राथमिकता दी गई है। इन बारह व्रतों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच व्रतों के साथ दिग्-परिमाण, भोगोपभोग-परिमाण, अनर्थदंड विरमण, सामायिक, देशावकायिक, पौषधोपवास तथा यथा-संविभाग—इन सात गुणव्रतों-शिक्षाव्रतों को शामिल किया गया है। जैन धर्म में श्रावक की दैनंदिन व्यावहारिक प्रवृत्तियों के सीमाकरण का चौदह बिंदुओं का एक क्रम भी प्राचीन काल से ही चला आ रहा है।

जैन दर्शन के ये सिद्धांत पहली नजर में आधुनिक अर्थशास्त्र और मनुष्य की मान्य विचारधारा के विपरीत प्रतीत हो सकते हैं। उपभोग-संयम के इन नियमों को भौतिक विकास की प्रचलित विचारधारा में अपवाद भी समझा जा सकता है। प्रश्न प्रचलित विचारधारा के अनुरूप अथवा अपवाद होने का नहीं है—प्रश्न है कि क्या उपभोग-परिसीमन एवं संयम व्यक्तिगत एवं सामुदायिक हित-चिंतन के उच्चतर प्रतिमान दर्शाते हैं? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में है, तो महावीर के इन सिद्धांतों को सार्वकालिक कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

महावीर के उपभोग-संयम के दर्शन को आज के अर्थशास्त्र के संदर्भ में हम चार कसौटियों पर आंक सकते हैं और इस प्रकार इन नियमों के उद्देश्यों और संप्रेरणाओं को भी समझा जा सकता है। ये चार कसौटियां व्यक्तिगत और सामुदायिक मनोग्रहों एवं आकांक्षाओं तथा उत्पादन की संप्रेरणाओं से जुड़ी हुई हैं। ये कसौटियां हैं—1. मनुष्य अपने व्यक्तिगत उपभोग की सीमा क्यों निश्चित करे? 2. उपभोग का संयम अंततः किसी राष्ट्र, जाति अथवा समुदाय के उत्पादन एवं उपार्जन की सीमा तो नहीं बन जाता? 3. उपभोग का संयम नए पदार्थों के सृजन, बौद्धिक संपदा के विकास और अनुसंधान में बाधक तो नहीं बन जाता? 4. उपभोग की सीमा आर्थिक एवं भौतिक विकास में बाधक बनकर सामुदायिक विपन्नता की स्थिति तो उत्पन्न नहीं करती?

व्यक्तिगत और सामुदायिक उपभोग सामान्य परिस्थितियों में उपार्जन से कम ही रहता है। उपार्जन के इस आधिक्य का व्यक्ति एवं समुदाय अपनी संपदाओं के संवर्द्धन के लिए करता है। संपदाओं का यह संवर्द्धन आवश्यक भी है, क्योंकि भविष्य के उपार्जन-वृद्धि के प्रयासों में इस संवर्द्धन (पूंजी निवेश) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। राज्य भी व्यक्तिगत उपार्जन से सामुदायिक उपभोग के लिए एक निश्चित अंश— जो उपार्जन के साथ क्रमशः बढ़ता जाता है—करों के रूप में वसूल करता है। उपार्जन के कुछ अंश का स्वेच्छा से पूंजीनिवेश अथवा वृद्धावस्था में स्वपोषण के लिए हस्तांतरण अथवा उसकी करों के माध्यम से राज्य द्वारा वसूली—एक सर्वमान्य ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है।

स्वेच्छिक पूंजीनिवेश या बचत की अपनी संप्रेरणाएं हैं। इन संप्रेरणाओं में मुख्य हैं अपने अथवा अपनी भावी पीढ़ियों और संतति (अथवा दोनों ही कारणों के लिए) के लिए संपदा के संवर्द्धन और उपार्जन के स्रोतों की वृद्धि। उत्पादन का एक दूसरा घटक है—प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों का दोहन। जिस तरह जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आते हैं, पदार्थ भी बौद्धिक संपदा के विकास और द्रव्य, काल एवं क्षेत्र के अनुसार अज्ञात से ज्ञात की श्रेणी में आते रहते हैं। प्रकृति कुछ पदार्थों का लगातार सृजन भी करती रहती है। प्रकृति के अपशिष्टों को आत्मसात करने एवं नव-सृजन करने की गति (जिनमें पदार्थों का अज्ञात से ज्ञात श्रेणी में आना भी शामिल है) यदि दोहन की गति से कम है तो व्यक्ति एवं समुदाय द्वारा संपदाओं का किया गया संवर्द्धन, उत्पादन उपार्जन-वृद्धि की निश्चित गारंटी नहीं दे सकता। विकास की इस अवधारणा में, जिसमें भावी पीढ़ियों के लिए प्रकृति-प्रदत्त उत्पादन के साधनों को एक व्यावहारिक अनुपात में उपलब्ध करवाना शामिल है, उपभोग के परिसीमन को स्वीकार करना आवश्यकता भी है और मजबूरी भी।

जैन दर्शन पुनर्जन्म में विश्वास करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य की भावी संतति उसका मात्र प्रतिरूप ही नहीं, वह स्वयं भी हो सकता है। प्रकृति-प्रदत्त सीमित साधनों का अत्यधिक दोहन इस तरह उसके अपने उत्पादन के साधनों की उपलब्धता में कमी दर्शा सकता है। पुनर्जन्म की संभावनाओं के साथ ही उपभोग एवं संपदा-संवर्द्धन की संप्रेरणाएं पूरी तरह बदल जाती हैं। ❖

महासभा का नब्बेवां वार्षिक सम्मेलन संपन्न

श्री चौरड़िया अध्यक्ष व श्री कोठारी प्रधान न्यासी पद पर फिर से निर्वाचित

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा का नब्बेवां वार्षिक सम्मेलन 27 जनवरी, 2004 को खानदेश-जलगांव (महाराष्ट्र) में संपन्न हुआ। हर दो साल बाद महासभा की कार्यकारणी और न्यास मंडल के होने वाले चुनाव भी इसी अधिवेशन में संपन्न हुए।

श्री सुरेंद्रकुमार चौरड़िया महासभा के अध्यक्ष पद पर निर्विरोध रूप से दूसरी बार चुने गए।

महासभा के न्यास मंडल का चुनाव भी इसी दिन हुआ और श्री रणजीतसिंह कोठारी दूसरी बार प्रधान न्यासी के पद पर चुन लिए गए। न्यास मंडल के अन्य निर्वाचित सदस्यों में सर्वश्री जसकरण चौपड़ा (सूरत), मांगीलाल छाजेड़ (बंगलोर), धर्मचंद राखेचा, भीखमचंद पुगलिया, सुरेंद्रकुमार दूगड़ (सभी कोलकाता), रमेशकुमार धाकड़, मदनलाल तातेड़ (दोनों मुंबई) भी निर्विरोध निर्वाचित हुए।

नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री सुरेंद्रकुमार चौरड़िया ने अपनी नई कार्यकारणी भी जलगांव में ही घोषित कर दी।

श्री तरुण सेठिया (कोलकाता) फिर से महामंत्री के पद पर मनोनीत किए गए हैं। उपाध्यक्ष पद पर सर्वश्री मूलचंद डागा, राजकरण सिरोहिया (दोनों कोलकाता), स्वरूपचंद बरड़िया, सुखराज सेठिया (दोनों दिल्ली) व हेमराज सामसुखा (बंगलोर) मनोनीत किए गए। सहमंत्री के पद पर श्री शांतिकुमार जैन (दिल्ली) व श्री विजयसिंह चौरड़िया (कोलकाता) मनोनीत किए गए हैं। कोषाध्यक्ष के पद पर श्री प्रकाश बैद (कोलकाता) फिर से मनोनीत किए गए।

इसी मौके पर पंचमंडल का गठन भी हुआ। सर्वश्री कन्हैयालाल डूंगरवाल (गुवाहाटी), भंवरलाल डागलिया (मुंबई), बिमलसिंह सेठिया (कोलकाता) पंचमंडल के सदस्य घोषित किए गए।

90वें वार्षिक सम्मेलन पर उपस्थित सदस्यों को संबोधित करते हुए महासभा अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चौरड़िया ने पिछले वर्ष की गतिविधियों पर अपना मंतव्य प्रकट करते हुए अत्यंत विनम्र भाव से कहा कि—'टीम का उत्साह अत्यधिक था, पर उनकी भावना के अनुसार मैं गति नहीं दे पाया, यह मेरी कमी है। जो कर पाया, वह सब उनकी शक्ति का प्रतिफल है।' श्री चौरड़िया ने स्वीकार किया कि—'विगत अवधि में पूरे समाज का सहयोग मिला, अनेक व्यक्तियों ने सहयोग दिया जिनकी लंबी सूची है—मैं उन सबके प्रति आज हृदय से कृतज्ञ हूं।'

महासभा अध्यक्ष ने प्रधान न्यासी श्री रणजीतसिंह कोठारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि—'चीफ ट्रस्टी महोदय का अपूर्व सहयोग मुझे मिला, मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं।'

श्री चौरड़िया ने महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया और कोषाध्यक्ष श्री प्रकाश बैद का भी आभार स्वीकार किया और कहा कि—'कामकाज को व्यवस्थित करने में मुझे दोनों महानुभावों का अनवरत सहयोग मिलता रहा।'

श्री सुरेंद चौरड़िया ने 'विजन-2007' का जिक्र करते हुए महासभा को सशक्त केंद्रीय संगठन बनाने के प्रति अपना मंतव्य प्रकट किया और कहा कि—'दायित्वों के निर्वाह के लिए व्यवस्थित रूप से योजनाबद्ध होकर आगे बढ़ने की दिशा में अलग-अलग प्रतिक्रियाओं के माध्यम से हमारा मार्ग प्रशस्त होता रहा। जो प्रतिक्रियाएं हमें मिलीं, हमने उनकी समीक्षा की और व्यवस्थित रूप से आगे बढ़ने की कोशिश करते रहे। चौरड़ियाजी ने आशा प्रकट की कि अब आगे आने वाली 'टीम' अधिक सक्षमता के साथ इस केंद्रीय संगठन को मजबूत बना सकेगी यह मैं उम्मीद्र करता हूं।'

अधिवेशन में महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने नब्बेवां वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। श्री सेठिया ने वर्षभर की गतिविधियों का ब्यौरेवार विवरण रखा और उपस्थित सदस्यों ने इसे स्वीकार किया। शेष पृष्ठ 39 पर

मनुष्य जिस काल का अनुभव करता है वह अधिक विस्तार में फैला है और उसकी योजना अधिक सजग तथा सुचिंतित है। सैद्धांतिक रूप में भविष्य का विचार मनुष्य के उच्च सांस्कृतिक कार्यों के लिए अपेक्षित है, पर यह केवल अपेक्षा की बात नहीं है, वरन् उसके जीवन के लिए कर्तव्यविधायक भी है। यह परिकल्पना अपने उच्चतम रूप में व्यावहारिक अथवा प्रायोगिक जीवन की सीमा के परे रचना के स्तर पर पहुंचती है। इस प्रकार अतीत के प्रतीक के समान मनुष्य का प्रतीकात्मक भविष्य उसके व्यक्तित्व का निर्धारण करता है, उसके रचनात्मक पक्ष में इसका विशेष महत्त्व है। इस रचनात्मक स्तर पर भविष्य मनुष्य की मूल्यप्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण आधार भी रहा है। नैतिक तथा धार्मिक जीवन के मूल्यों का रचनात्मक निर्देश भविष्य को दृष्टि में रखकर किया गया है। हम जानते हैं कि धार्मिक शिक्षकों ने भविष्य की दृष्टि से नैतिक तथा धार्मिक कर्तव्यों की चर्चा की है और भविष्य के लिए आश्वासन दिये हैं। पर हम देखते हैं कि जब इन मूल्यों का स्वरूप निश्चित और रूढ़ हो गया है, वह कुंठित और अवरुद्ध हुई है। वस्तुतः मनुष्य की रचनाशक्ति उसके सीमित अस्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण करने का साहस करती है।

❑❑

सांस्कृतिक प्रक्रिया और मानव-व्यक्तित्व

❑ प्रो. रघुवंश ❑

कहा गया है कि 'स्व-चेतना' से आत्मज्ञान तक की प्रक्रिया धार्मिक जीवन के क्रम को लक्षित करती है। यह आत्मज्ञान धार्मिक जीवन के उच्चतम रूपों में आधार रूप में स्वीकृत रहा है। जबकि 'स्व-चेतना' के स्तर पर मनुष्य ने अपने परिवेश के रूप में प्रकृति को पाया, उसने आत्मबोध के रूप में व्यक्तित्व को क्रमशः रूपायित किया है। इस व्यक्तित्व के बोध को अभिव्यक्त करने के क्रम में मनुष्य ने अपनी रचनात्मक मूल्यदृष्टि को व्यंजित किया है। इस अनिवार्य परिणति में हम अनुभव करते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य की जानने की प्रारंभिक प्राकृतिक सहज प्रवृत्ति का आकस्मिक उलटफेर हुआ, उसी के समानांतर मानवीय संदर्भों में विकसित होते क्रम में परामूल्यीकरण का स्तर व्यंजित हुआ है। इस मूल्यप्रक्रिया को सामाजिक संघटनों और सभी धर्मों के इतिहास में देखा जा सकता है, वस्तुतः संस्कृति के रचनात्मक अभिव्यक्ति के चरणों को इसमें लक्षित किया जा सकता है। इस क्रम का एक रूप हम दार्शनिक चिंतन के विकास में देख सकते हैं।

हम इस बात को समझते हैं कि पाशविक जगत् की प्रभाव ग्रहण करने और प्रभाव डालने की व्यवस्था के बीच मानवीय अभिव्यक्ति का प्रतीकविधान माना जा सकता है। अभिव्यक्ति के इस स्तर पर अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य एक विस्तृत यथार्थ में जीता है और यथार्थ के इस नये आयाम में व्यक्तित्व ग्रहण करता है। वस्तुतः उसके व्यक्तित्व के इस आयाम में रचनाशीलता लक्षित होती है और उसकी तथा अन्य जीवों की प्रतिक्रियाओं के बीच यह एक निर्भ्रांत अंतर है। इस स्थिति में उसकी प्रतिक्रियाएं कल्पना की ओर प्रेरित होती हैं। ऐसा लगता है कि मानवीय स्तर पर इस प्राकृतिक क्रम के उलट जाने से कोई बचाव नहीं था, अब उसकी प्रतिक्रियाएं बाहरी प्रेरक से सीधी और तुरंत उत्तर के रूप में नहीं हैं, वरन् मंद और विषम

विचारप्रक्रिया और कल्पना से बाधित तथा अवरुद्ध होती हैं। मनुष्य अब मात्र भौतिक जगत् में न रहकर प्रतीकात्मक जगत् में रहने वाला व्यक्ति है और इसके इस रचनात्मक संसार में भाषा, मिथ, धर्म, कला और काव्य उसके व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों और स्तरों की अभिव्यक्ति के माध्यम-रूप हैं। इन विभिन्न सूत्रों से उसकी प्रतीक रचना का तानाबाना बुना गया है, जिसमें उसका व्यक्तित्व विभिन्न अनुभवों में रूप ग्रहण करता है।

विकासक्रम में मानवीय व्यक्तित्व अपने विचार और अनुभव को अधिक सूक्ष्म तथा प्रभावी रूप प्रदान करता है। इस स्तर पर मनुष्य की प्रतीकात्मक रचनाप्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ भौतिक यथार्थ पीछे खिसकता जान पड़ता है। इस स्तर पर वस्तुजगत् के यथार्थ रूप में संलग्न होने के बजाय मनुष्य निरंतर अपने व्यक्तित्व से प्रतिक्रियाशील होता है। उसने अपने-आप को भाषा के प्रतीकविधान से इस प्रकार संपृक्त कर लिया कि इस रचनात्मक माध्यम के अंतरावलंबन के अतिरिक्त उसके लिए कुछ देखना या जानना संभव नहीं है। इस प्रकार यह उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का रूपविधान है। भाषा के रूपविधान के साथ उसकी अभिव्यक्ति को कलात्मक बिंबों, मिथकीय रूपकों तथा धार्मिक रीतियों में भी देखा गया। उसके इस रचनात्मक प्रतीकविधान की प्रक्रिया को वैचारिक तथा व्यावहारिक—दोनों क्षेत्रों में समान रूप से देखा जा सकता है। उसके व्यक्तित्व के इस आयाम पर संसार के कठोर तथ्यों तथा तुरंत की आवश्यकताओं और इच्छाओं का संसार तिरोहित हो जाता है। वह काल्पिनक संवेगों, आशाओं और आशंकाओं, भ्रमों और स्वप्नों के बीच रहता है।

मानव व्यक्तित्व के प्रश्न को मानवशास्त्रीय दर्शन के केंद्र में मानते हुए केसिरर कहते हैं कि मानवीय बुद्धि को 'बिंबों की खोज' रहती है, के बजाय यह कहना अपेक्षित है कि वह प्रतीकविधान के माध्यम से अपने संसार की रचना करती है। मानव-बुद्धि अपनी प्रकृति से प्रतीकात्मक ज्ञान ग्रहण करती है, पर उसका यह रचनात्मक गुण उसकी शक्ति है तो उसकी सीमा भी है। मनुष्य की प्रतीकात्मक विचारप्रक्रिया में एक ओर यथार्थ और संभव का अंतर अनिवार्यतः निहित है, तो दूसरी ओर वह वास्तविक भौतिक अस्तित्व न होकर मात्र अर्थव्यंजना है। इस प्रकार यह मनुष्य की रचनाप्रक्रिया का आधार है। मानवीय मानस के आदिम स्तर पर निश्चय ही रचनाप्रक्रिया के इस रूपविधान में बौद्धिक अस्तित्व और अर्थव्यंजना के दो क्षेत्रों के बीच अंतर नहीं किया जाता था। आदिम व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के प्रतीकात्मक प्रयोग को भौतिक यथार्थ और जादुई शक्तियों से संपन्न मानता रहा है। यह वस्तु तथा प्रतीक का अंतर संस्कृति के विकासक्रम में अनुभव किया गया है। यहां इसका अर्थ संभावना तथा यथार्थ के बीच के अंतर को अधिक स्पष्ट रूप में ग्रहण करने से लिया गया है।

वस्तुतः मानसिक स्तर पर जिस क्रम में मनुष्य ने यथार्थ और संभाव्य के अंतर को ग्रहण किया है, उसी प्रतीकात्मक ज्ञान की प्रक्रिया से उसने व्यक्तित्व ग्रहण किया और उसे अभिव्यक्त करने का उपक्रम किया। उसके प्रतीकात्मक चिंतन में कुछ विशेष परिस्थितियों के अंतर्गत अवरोध उत्पन्न होता है अथवा अस्पष्टता आ जाती है, संभावना और वास्तविकता के बीच का अंतर भी अनिश्चित हो जाता है। पर ध्यान देने की बात है कि यह अस्पष्टता और अनिश्चय उसके वस्तुजगत् के रचनात्मक अनुभव की विशेषता भी है। विज्ञान के सैद्धांतिक तथ्य प्रतीकात्मक तत्त्व के रूप में निश्चित माने जा सकते हैं, पर ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथ्य भी हैं जिन्होंने विज्ञान के इतिहास की पूरी धारा को बदला है, और वे कल्पना द्वारा निर्धारित तथ्य रहे हैं। इस स्तर पर विज्ञान के क्षेत्र में मानवीय प्रतीक-योजना की रचनाशीलता को देखा जा सकता है। बाद में कल्पना के रूपायित तथ्य पर्यवेक्षण के अंतर्गत आते हैं। इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण गणित में मिलेंगे, विशेषकर निषेधात्मक, अतार्किक और काल्पनिक संख्याओं के इतिहास में इसके विकास को खोज सकते हैं।

मानवीय रचनाशीलता के स्तर पर इस विचार की यथार्थ प्रकृति और पूरे बल को नैतिक धारणाओं तथा आदर्शों के विकास की ओर उन्मुख होकर अधिक स्पष्टता से देख सकते हैं, पर यहां गतिशील तथा रूढ़ मूल्यों के अंतर को ध्यान में रखना भी अपेक्षित है। मानवीय मूल्यों के आदर्श का यह स्तर संभाव्य और यथार्थ के अंतर की मानवीय समझ द्वारा स्पष्ट होता है। इस स्तर पर न केवल यथार्थ वस्तुओं का अंतर स्पष्ट होता है और सिद्धांतपरक तर्क की सामान्य विशेषता समझी जाती है, बल्कि व्यावहारिक तर्क के बारे में एक सत्य का बोध भी होता है। इस कल्पना के स्तर की रचनाशीलता की प्रक्रिया महान बौद्धिक और नैतिक शक्ति से संपन्न विचारकों के व्यक्तित्व में देखी जा सकती है। उसकी यह कल्पनात्मक

अंतर्दृष्टि उनके समस्त आग्रहों में समाहित और सचेतन रहती है। नए भविष्य की कल्पना को रूपाकार देने के लिए मनुष्य ने प्रतीकात्मक रचनाशक्ति का उपयोग किया। इन कल्पनाप्रसूत आदर्शों ने मानव सभ्यता को किस प्रकार संपन्न किया—इतिहास इसका साक्षी है। इस प्रतीकविधान की प्रक्रिया ने मनुष्य की प्राकृतिक जड़ता को दूर कर उसे नयी रचनात्मक क्षमता से संपन्न किया। उसकी इस क्षमता ने यथार्थ मूल्यों के सर्जन को सदा नया रूप दिया है।

हम देखते हैं कि मनुष्य अपनी समाजीकरण की प्रक्रिया में इतर प्राणिजगत् से व्यक्तित्व की विशेषता और रचनाशीलता के स्तर पर अलग है। किसी रचना के विभिन्न आयामों में हम नये और विभिन्न अर्थों को ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व में अनुभव के ऐसे विविध, जटिल तथा विरोधाभासी दृश्यरूपों को हम पाते हैं जिनमें अर्थ की अनेक संभावनाएं निहित होती हैं। इस दृष्टि से रचना का आयाम उसमें निरंतर पाया जाता है। मनुष्य ने सामाजिक व्यवस्था खोजने के क्रम में अपने अनुभवों, इच्छाओं और विचारों को संयोजित करने के अनेक प्रयत्न किये हैं। उसकी ये व्यवस्थाएं और संयोजनाएं सामाजिक विकास के क्रम में उसकी विभिन्न संस्थाओं में अभिव्यक्त हुई हैं। इनमें राज्य का विकास अधिक निकट और प्रत्यक्ष रहा है, क्योंकि यह व्यवस्था अन्य सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को नियोजित और नियंत्रित करती रही है। प्लेटो जैसे विचारक ने इसी कारण मानवीय अनुभवों की जटिलता के अर्थ ग्रहण करने के लिए राज्य के सिद्धांत के विकास की अपेक्षा मानी है, पर यह उनकी दृष्टि की सीमा है। वस्तुतः संस्कृति के बाह्य पक्षों, समाज, राज्य और अर्थव्यवस्था पर मानवीय जीवनक्रम अधिक निर्भर होता है। पर ऐतिहासिक स्तर पर स्पष्ट अस्तित्व को व्यंजित न करते हुए भी मानवीय व्यक्तित्व और उसकी रचनाशीलता का अपना अलग मूल्य और प्रयोजन रहा है। और इनकी अभिव्यक्ति का अधिक प्रभावी और सार्थक रूप भाषा, मिथ, धर्म, कला और काव्य में देखा जा सकता है।

मानवीय संस्कृति और उसकी मूल्य-प्रक्रिया के अध्ययन में देखा गया है कि उसकी विधि व्यक्तिपरक की अपेक्षा वस्तुपरक स्वीकार की गयी है। कॉम्ते जैसे दार्शनिक मानते हैं कि हमें अपने वस्तुपरक ज्ञान के लिए व्यक्तिगत चेतना के बजाय विश्वजनीन स्तर पर वस्तु का ज्ञान अपेक्षित है। इस वस्तुगत ज्ञान का अर्थ अपनी व्यापकता में मानवता के रूप में लिया जा सकता है और यही उसका विश्वजनीन स्तर है। यहां यह भी स्पष्ट है कि मानवता मनुष्य के द्वारा व्याख्यायित नहीं हो सकती, वरन् मनुष्य का व्यक्तित्व मानवता के स्तर पर व्याख्यायित होता है। इस व्याख्या में एक स्तर पर मानवीय व्यक्तित्व समाहित है, साथ ही व्यक्ति की रचनाशीलता का स्वीकार भी है। यहां हम देखते हैं कि मनुष्य के अनुभव का रूप प्रतीकों में निहित होता है और प्रतीकविधान की अर्थप्रक्रिया विश्वजनीन होती है। वस्तुतः व्यक्ति मनुष्य के स्थान पर पूरी मानवता के स्तर पर प्रतीकों के अर्थ ग्रहण का क्रम चलता है। इसी कारण उसके अनुभव की प्रक्रिया रचनात्मक मानी गयी है और इस स्तर पर वह अपने अनुभव को संप्रेषित करता है। यहां कहा जा सकता है कि यह अर्थ को अभिव्यक्त तथा ग्रहण करने की रचनात्मक प्रक्रिया काव्य के साधारणीकरण का एक रूप है। यही कारण है कि जिस सीमा तक मनुष्य अनुभव को अभिव्यक्त करता है, उसके संप्रेषण की यह प्रक्रिया प्रतीकात्मक रचनाविधान की होती है। व्यवहार और प्रयोजन के स्तर पर जब वह प्रत्ययों का प्रयोग करता है, वह अनुभव को संप्रेषित न करके केवल विचार को रूप देता है।

मानवीय व्यक्तित्व को प्रायः उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर निरूपित किया गया है और उसकी मौलिक क्रियाओं को कुछ अधिक स्पष्ट तथा निश्चित वर्गों में विभाजित करने का उपक्रम रहा है। मानवशास्त्रियों ने यद्यपि प्रवृत्तियों को वर्गों में विभाजित करना अवैज्ञानिक माना है, पर डिवी जैसे विचारक इस वर्गीकरण को निश्चित रूप से उतना ही उपयोगी मानते हैं जितना स्वाभाविक। अंततः जब निश्चित तथा परिवर्तित होती स्थितियों और घटनाओं के समूहों पर मस्तिष्क प्रतिक्रियाशील होता है, तब वस्तुतः वह उन कार्यों की व्याख्या करता है, आविष्कार करता है, सूची बनाता है, और समान वर्गों में संगठित तथा सीमित करता है। पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जब तक इस प्रक्रिया के माध्यम से हम स्वच्छंद और मुक्त रूप से अर्थ ग्रहण करते हैं, यह मानवीय व्यक्तित्व के अर्थ को ग्रहण करने में सहायक होती है। पर जब हम इन सूचियों और वर्गों को निश्चित समूहों और विभाजनों में मानकर चलने लगते हैं, तब हम बाह्य जगत् के साथ अपने व्यापार में सहायता पाने के बजाय बाधा ही उपस्थित करते हैं। हमारे हाथ से रचनात्मक अनुभव के सूत्र छूट जाते हैं। स्पष्टतः मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं को सरल क्रियाशीलता के रूप में नहीं समझा या ग्रहण किया जा सकता। यह विभाजन-वर्गीकरण व्यवहार के स्तर पर किया जाता है, पर मानवीय

स्तर पर यह अनुभव तथा उसकी अभिव्यक्ति सदा ऐसी समग्रता में व्यंजित होती है जिसके अनेक स्तर और आयाम हैं। इसी कारण मानवीय अनुभव की समग्रता को अभिव्यक्त करने के उपक्रम को सर्जनात्मक माना गया है। वस्तुतः इस समग्र अनुभव का एक रूप आदिम मानव के अनुभव का रहा है, इस स्तर पर उसका कोई भी अनुभव तार्किक रूपों और प्रतिरूपों को व्यक्त करने के बजाय संश्लिष्ट रूप में व्यंजित होता था। अनुभव की इस संश्लिष्टता में रचना का स्तर असजग रहा है, और उसका यह स्वरूप आदिम मिथ में लक्षित होता है। आगे धर्म और कलाओं में यह रचनात्मक अभिव्यक्ति का स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट और सजग होता गया। इसे मानव व्यक्तित्व की रचनाप्रक्रिया के क्रम में देखा जा सकता है।

मानव-व्यक्तित्व की इस संश्लिष्ट और रचनात्मक प्रक्रिया को विभिन्न शास्त्रों के अंतर्गत व्याख्यायित करना संभव नहीं रहा है। मानवदर्शन, समाजदर्शन और जीवमनोविज्ञान आदि क्षेत्रों के प्रयोगों से मनुष्य की इस प्रतीकपद्धति को सही परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित नहीं किया जा सका। केसिरर ने अनेक पक्षों को प्रस्तुत करते हुए अपनी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ सिंबोलिक फ़ॉर्मा' में मनुष्य की प्रकृति अथवा उसके मूल तत्त्व की परिभाषा प्रयोगात्मक रूप में की है, क्योंकि उसका कोई वास्तविक तत्त्व, प्रकृति अथवा रूप नहीं होता। हम मनुष्य की परिभाषा उसके किसी आंतरिक सिद्धांत के आधार पर नहीं कर सकते, जो उसके सारे तात्त्विक स्वरूप को निर्मित करता है। इसी प्रकार हम उसकी ऐसी व्याख्या नहीं कर सकते जो उसकी मूलभूत क्षमता या प्रवृत्ति के आधार पर की गयी हो और जिसको अनुभवगत पर्यवेक्षण से निश्चित किया जा सके। केसिरर के अनुसार मनुष्य का कार्य ही उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता और अन्यों से अलग करने वाला चिह्न है, उसकी तत्त्ववादी या भौतिक प्रकृति नहीं। इस कार्ययोजना के अंतर्गत मानवता को अर्थ देने वाली कार्यों की सारी व्यवस्था आ जाती है, जो मनुष्य की व्याख्या करती है और उसके वृत्तों को निश्चित करती है। यहां मानवीय जीवन को कार्य की प्रक्रिया और व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया गया है, उसके इस कार्यवृत्त को सजग रचनाप्रक्रिया के रूप में माना जा सकता है जो उसके व्यक्तित्व के विविध स्तरों और आयामों को अभिव्यक्ति देता है।

मानव-दर्शन के अंतर्गत मानवीय कार्यकलापों में हर एक की मूलभूत संरचना को अंतर्निहित देखा जा सकता है। इस संरचना में निहित दृष्टि में हमको एक आवयविक पूर्णता लक्षित होती है। इन समस्त कार्य-व्यापारों में सामाजिक बंधन का सूत्र वस्तुपरक न होकर प्रयोगपरक है अर्थात् रचनात्मक है। इसीलिए भाषा के प्रतीकविधान में, मिथ कथाओं में, कला के रूपविधानों में और धर्म के मूल्यगत रूपों में अलग-अलग बिखरी हुई रचनाओं के बजाय संश्लिष्ट रचना का स्वरूप होता है। इसी आधार पर भाषा, मिथ, काव्यकला और धर्म के मूलभूत कार्यों की अनंत आकृतियों, रूपों और उच्चारणों के पीछे बहुत दूर तक खोजने पर अंतिम विश्लेषण में हम उनके समान मूल को पाने का प्रयत्न करते हैं। नये बौद्धिक केंद्र का संदर्भ पाने में और मानवीय परिस्थिति को नये कोण से देखने में हमको इन संरचनाओं के आधार पर बढ़ना होगा। समस्त मानवीय कार्य किन्हीं निश्चित ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं और इन विशेष परिस्थितियों को इन कार्यों में निहित सामान्य संरचनात्मक सिद्धांतों के ग्रहण कर पाने योग्य होकर ही हम समझ सकते हैं। इसी कारण भाषा, मिथ, कला और धर्म के अध्ययन में अर्थ की समस्या पर ऐतिहासिक विकास की समस्या से पहले विचार कर ही मानवीय संस्कृति की गहराई को मापने की आशा की जा सकती है। और इसीलिए संस्कृति की संरचनात्मक दृष्टि ऐतिहासिक दृष्टि से पहले आती है और मानव व्यक्तित्व की रचनाशीलता को इसी स्तर पर ग्रहण किया जा सकता है।

मानसिक प्रतीकविधान के क्रम में हम मनुष्य के व्यक्तित्व के रचनात्मक पक्ष को भी देख सकते हैं। एक स्तर पर प्रतीक से अनेक अर्थों और व्यंजनाओं को ग्रहण किया जा सकता है और दूसरे स्तर पर उसमें निहित अर्थव्यंजनाओं को साधारणीकरण के रूप में अनुभव किया जा सकता है। हर्डर जब भाषा के दैवी या पराप्राकृतिक मूल को अस्वीकार करते हैं, वस्तुतः वह मानवीय मस्तिष्क की सामान्य प्रक्रिया के रूप में भाषा के रचनात्मक विधान को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। भाषा का तर्क-वितर्क अथवा तार्किक विचार मनुष्य की ऐसी योग्यता है जो ऐंद्रिक दृश्यरूपों को संपूर्ण अविभाज्य समूहों से अलग करती है। पर यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता मनुष्य को अपनी जैविक आवश्यकताओं के बंधन से मुक्त करती है और उसे ऐसे आदर्श संसार में प्रवेश देती है जो उसके रचनात्मक स्तर पर मिथ, धर्म, कला, काव्य, दर्शन और विज्ञान के माध्यम से चारों ओर खुलते

गये हैं। यही क्षमता मनुष्य के अनुभव वैशिष्ट्य को व्यापक अभिव्यक्ति देती है, जो अपने संप्रेषण में एक ओर समग्र है और दूसरी ओर सहभागी। इसी मूलभूत प्रक्रिया के कारण साधारणीकरण व्यापार से मनुष्य दूसरों के अनुभव का सहभागी होता है, पर साथ ही यह सीमा भी उसमें निहित है कि एक व्यक्ति का अनुभव ठीक दूसरे व्यक्ति के अनुभव का रूप नहीं हो सकता।

कहा गया है कि आदिम अवस्था में मनुष्य अपने चतुर्दिक् के वातावरण से जिस संवेदनशीलता के साथ प्रतिक्रियाशील होता है, उसे वस्तुस्थितियों की सूक्ष्म तथा विभिन्न रूपों की प्रत्ययमूलक अवधारणाओं में ग्रहण नहीं कर पाता। उसका अनुभव अपने परिवेश के साथ समग्र रूप होता है, इस कारण वह मानसिक स्तर पर उन्हें नये रूपों तथा आयामों में संयोजित नहीं कर पाता। क्रमशः उसने अपनी मानसिक प्रक्रिया से यह क्षमता विकसित की है। हम देख चुके हैं कि देश-काल के बोध को लेकर मनुष्य का अस्तित्व अन्य प्राणियों से भिन्न स्तर पर स्वीकार किया जाना अपेक्षित है। आदिम देश की परिकल्पना अपनी संकुचित ठोस भौतिक परिधि में मानवीय संस्कृति के विकास में नहीं रह सकी। उसके व्यक्तित्व में पृथ्वी से स्वर्ग तक फैला हुआ देश स्वीकार किया गया है। न केवल अपनी बौद्धिक जिज्ञासा के लिए इस देश की परिकल्पना की, वरन् वहां उसने अपना ही प्रतिबिंब और अपने ही संसार की व्यवस्था पाना चाहा। इस क्रम में मानवीय व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट तथा भाव (प्रत्यय) परक होता गया, उसी प्रकार उसका देशगत विचार सही प्रत्यय के रूप में महत्त्व के साथ समझा गया। उसके चिंतनक्रम में गणितीय विश्व की परिकल्पना का आयाम प्रत्यक्ष होता गया। यह विकास मनुष्य की प्रतीकात्मक प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है और उसके इस रूप ने मानवीय व्यक्तित्व को विश्वव्यापी आधार प्रदान किया है। इस स्तर पर वह अपने अनुभव को संप्रेषित करने में सक्षम हुआ। इस प्रकार कालगत अनुभवों पर विचार करते समय हमको पुनः मानवीय व्यक्तित्व के रूप का परिचय मिलता है।

विचार किया गया है कि मात्र पिछले घटित की उपस्थिति और उनके अवशेषों का योग इतर प्राणियों के स्तर पर स्मृतिरूप माना जा सकता है। मानवीय स्तर की स्मृति के घटनारूप की व्याख्या इस आधार पर नहीं की जा सकती है। मानवीय स्मृति के अंतर्गत पहचानने और चीह्नने की जटिल प्रक्रिया निहित है। इस स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव न केवल दोहराए जाते हैं—जो प्राणियों के स्तर पर भी संभव है—वरन् उन्हें व्यवस्थित और नियोजित रूप में ग्रहण किया जाता है। साथ ही इस स्मृति के काल के विभिन्न संदर्भों को देखा जा सकता है। यह स्थितिकरण काल की सामान्य योजना को परिकल्पित करने से संभव होता है और इस क्रमिक व्यवस्था में अलग-अलग घटनाएं तथा दृश्यरूप संयोजित होते हैं। ध्यान देने की बात है—काल की क्रमिक व्यवस्था की परिकल्पना अपनी सजगता में काल संबंधी योजना की सहकारी होती है। काल के इन स्तरों और आयामों में मानवीय मानस जिन परिकल्पनाओं को स्मृति के रूप में नियोजित तथा संश्लिष्ट करता है, वे उसके व्यक्तित्व को चिंतन प्रक्रिया में अभिव्यक्ति देती हैं। यह पुनः स्मरण का प्रतीकविधान मानवीय व्यक्तित्व की विशेषता है और यह उसकी रचनाशीलता का स्वरूप भी है। इस प्रकार वह अपने पिछले अनुभवों को निजी तथा विशिष्ट रूप में रचनात्मक स्तर पर संयोजित और परिकल्पित करता है।

बर्गशॉ ने जिस रूप में स्मृति के अंतर्गत काल की अवधारणा को निरूपित किया है, उसके अनुसार स्मृति जैविक स्तर से कहीं अधिक गहरी और विषम दृश्यरूप है। इसका अर्थ अंतरीकरण और सघनीकरण के रूप में जीवन के तत्त्व रूपों की व्याख्या करना है। अगर हम इस तत्त्ववादी पक्ष से अलग हटकर मानवीय संस्कृति के घटनाक्रम पर विचार करें तो इस स्मृति की प्रतीक-प्रक्रिया से मानवीय व्यक्तित्व के आत्मिक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। यहां हम मनुष्य के व्यक्तित्व को भिन्न आयाम पर गतिशील पाते हैं। इसका प्रमाण हमको संत आगस्तिन जैसे आत्मानुभव के स्तर पर विचार करने वाले व्यक्ति की रचना 'स्वीकारोक्तियां' में मिलता है। जब वह अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन करते हैं तब हमारे सामने मानवता का धार्मिक नाटक घटित होता है। इसमें प्रतीकात्मक भाषा में न केवल धार्मिक मूल्यों (ईसाई आस्था) को अभिव्यक्ति मिली है, वरन् इस अभिव्यक्ति में इस महान चिंतक का व्यक्तित्व आत्मपरीक्षण तथा अंतरावलोकन की पद्धति से व्यंजित हुआ है।

मानवीय व्यक्तित्व की संरचना पर विचार करते समय हम देखते हैं कि भविष्य संबंधी काल की चेतना उसके तीसरे आयाम के रूप में अभिव्यक्त होती है। मनुष्य का

जीवन प्रायः आशा, आशंका, चिंता तथा संदेहों के बीच बीतता है, अपने व्यक्तित्व के इस पक्ष के कारण वह वर्तमान परिस्थिति के प्रत्यक्ष तथा समग्र अनुभव से प्रायः वंचित रहता है। उसके व्यक्तित्व का यह पक्ष जीवन में बहुत-से सुख-दुख का कारण है। पर ध्यान देना है कि इस पक्ष के बिना, जो उसकी विशिष्टता है, उसके व्यक्तित्व की रचनात्मक क्षमता अनेक स्तरों तथा रूपों में अभिव्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकती। इतर प्राणिजगत् के स्तर पर भविष्य का बोध, जैसा भी हो, मानवीय स्तर पर वह भविष्य की घटनाओं की पूर्व कल्पना और आगे के कार्यों की योजना है। इस स्तर पर भविष्य केवल एक बिंब नहीं है, वरन् एक विचार तथा कल्पनारूप है। जीवन के व्यवहार में संलग्न रहने की स्थिति में यह अंतर स्पष्ट नहीं होता।

मनुष्य जिस काल का अनुभव करता है वह अधिक विस्तार में फैला है और उसकी योजना अधिक सजग तथा सुचिंतित है। सैद्धांतिक रूप में भविष्य का विचार मनुष्य के उच्च सांस्कृतिक कार्यों के लिए अपेक्षित है, पर यह केवल अपेक्षा की बात नहीं है, वरन् उसके जीवन के लिए कर्तव्यविधायक भी है। यह परिकल्पना अपने उच्चतम रूप में व्यावहारिक अथवा प्रायोगिक जीवन की सीमा के परे रचना के स्तर पर पहुंचती है। इस प्रकार अतीत के प्रतीक के समान मनुष्य का प्रतीकात्मक भविष्य उसके व्यक्तित्व का निर्धारण करता है, उसके रचनात्मक पक्ष में इसका विशेष महत्त्व है। इस रचनात्मक स्तर पर भविष्य मनुष्य की मूल्यप्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण आधार भी रहा है। नैतिक तथा धार्मिक जीवन के मूल्यों का रचनात्मक निर्देश भविष्य को दृष्टि में रखकर किया गया है। हम जानते हैं कि धार्मिक शिक्षकों ने भविष्य की दृष्टि से नैतिक तथा धार्मिक कर्तव्यों की चर्चा की है और भविष्य के लिए आश्वासन दिये हैं। पर हम देखते हैं कि जब इन मूल्यों का स्वरूप निश्चित और रूढ़ हो गया है, वह कुंठित और अवरुद्ध हुई है। वस्तुतः मनुष्य की रचनाशक्ति उसके सीमित अस्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण करने का साहस करती है।

इस प्रकार मनुष्य अपने व्यक्तित्व के रचनात्मक स्तर पर देश तथा काल संबंधी परिकल्पना को ग्रहण करता है। यह देखा गया है कि सामान्य मनोवैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर देश-काल संबंधी मानवीय अनुभव व्याख्यायित नहीं हो पाता। वस्तुतः इस क्षेत्र में भी संस्कृति के रूपों के विश्लेषण से मानवीय संसार के देश-काल की सच्ची विशेषता को खोजा जा सकता है। मनुष्य द्वारा देश के प्रतीकात्मक विश्लेषण के आधार पर हम देश के प्रत्यय रूप को समझ सकते हैं। यह कहा जा चुका है कि क्रियाशील देश की परिकल्पना से मनुष्य की देशगत धारणा भावात्मक तथा वैचारिक स्तर पर अलग है। व्यक्तित्व के इस आयाम पर न केवल मानवीय ज्ञान का नया क्षितिज खुलता है, वरन् उसके जीवन को नितांत नयी रचनात्मक दिशा मिलती है। यूनानी चिंतनक्रम में यह भावपरक अवधारणा विकसित हुई, आधुनिक युग में न्यूटन जैसे विचारक देश की गणितपरक अवधारणा को भाववाची मानते हैं और उसे ऐंद्रिक अनुभव के देश से अलग मानते हैं। परंतु देश-काल के भाववाची संबंधों को सत्य रूप में स्वीकार कर लेने पर भी मानवीय व्यक्तित्व के क्षेत्र में इस सत्य को फिर से परिभाषित करना अपेक्षित है। हमारा संबंध जिस भाव तथा अनुभव के प्रतीकात्मक देश-काल से है, वह वस्तुओं के यथार्थ से अलग है। यहां हमारा संबंध ऐसे सत्य से है जो प्रतिज्ञाओं और विचारों में रूपायित होता है। यह प्रक्रिया हम देख सकते हैं कि मानवीय भावपरक (प्रत्ययमूलक) चिंतन के रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व को साधारणीकृत स्तर पर व्यंजित करती है। स्पष्टतः यह रचना का स्तर भी है। आदिम जीवन और समाज की परिस्थितियों में इस भावपरक देश के विचारसूत्र को कठिनाई से पाया जाता है, क्योंकि देश की यह परिकल्पना व्यावहारिक आवश्यकताओं तथा रुचियों से चतुर्दिक घिरी रहती है। वह वस्तुगत, व्यक्तिगत, या सामाजिक अनुभवों से पूर्ण है और शुद्ध भावपरक न होकर भी इन तत्त्वों से सन्निविष्ट होती है, अपने अनुभव में संश्लिष्ट।

वस्तु और स्थितियों के यथार्थ तथा उनकी संभावना के बीच अंतर स्पष्ट करने की मनुष्य के ज्ञान की विशेषता उसके व्यक्तित्व को व्याख्यायित करती है, क्योंकि उससे समस्त अस्तित्व की सामान्य शृंखला में मनुष्य का स्थान निर्धारित होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में ही यथार्थ और संभाव्य के अंतर को स्वीकार किया जा सकता है, मनुष्य ही 'संभव' वस्तुओं और स्थितियों के विचार को रूप दे पाता है, उसकी 'साधित' बुद्धि से संभावना की समस्या उत्पन्न होती है। जैसा कहा गया है, वास्तविकता और संभावना का अंतर शब्दार्थी है, तत्त्ववादी नहीं। यह भौतिक वस्तुओं की संकेत देने वाली विशेषता अपने-आप में नहीं होती, यह हमारी ज्ञानप्रक्रिया से संबद्ध है और इस स्तर पर हम मनुष्यों

की रचनाशीलता को लक्षित कर सकते हैं। ध्यान देने की बात है कि जब कांट पराबुद्धि और आध्यात्मिक मानस के स्तर पर वास्तविकता और संभाव्य के बीच अंतर नहीं करते, तब उनका यह प्रयोग प्रातिभ अनुभव की परिकल्पना मात्र के लिए किया गया है। इससे मानवीय बुद्धि की प्रकृति और सीमा का बोध होता है, साथ ही रचना के स्तर पर ज्ञान का यह आयाम भी व्यंजित हो जाता है। हम बिना बिंबों के नहीं सोच सकते और प्रत्ययों के बिना प्रातिभ अनुभव नहीं कर सकते। कांट के शब्दों में, 'बिना प्रातिभ अनुभव के परिकल्पनाएं खाली होती हैं, और बिना प्रत्ययों के प्रातिभ अनुभव अंधे होते हैं।' वस्तुतः उनके अनुसार मानवीय ज्ञान का यह स्तर वास्तविकता और संभावना के मूल में है और यह उसके द्वंद्वात्मक ज्ञान की मूलभूत शर्त भी है, क्योंकि इस आधार पर ही उसका रचनात्मक व्यापार संभव होता है।

मनुष्य की प्रतीकात्मक विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति अनेक अर्थव्यंजनाएं रखती हैं। संकेत से प्रतीक के अंतर को स्पष्ट करते हुए यह रेखांकित करना भी अपेक्षित है कि प्रतीकविधान के रूप में मानवीय अभिव्यक्ति केवल भौतिक जगत् के अर्थसंदर्भों को व्यक्त नहीं करती, वरन् प्रतीक अपनी अर्थप्रक्रिया में मानवीय व्यक्तित्व के अनेक स्तरों को व्यंजित करता है। अपने प्रयोगात्मक रूप में प्रतीक मनुष्य के व्यक्तित्व की मूल प्रक्रिया को रूप प्रदान करता है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य का अस्तित्व अपने संसार की रचना में इंद्रियबोध के गुणों पर निर्भर नहीं होता। इस कारण मानवीय संस्कृति अपना विशेष चरित्र, बौद्धिक स्तर और नैतिक मूल्य वस्तुजगत् की सामग्री से नहीं ग्रहण करती, वरन् मानवीय रूपविधान और निर्मित संरचना से ग्रहण करती है। और उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रतीकविधान को हम दोहरे स्तर पर देख सकते हैं। विभिन्न मानव समाजों की भाषाओं में विचार और प्रत्यय को व्यक्त करने वाला प्रतीक एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है, साथ ही दूसरी ओर एक समाज की भाषा के अंतर्गत एक विचार और प्रत्यय विभिन्न प्रतीक रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है। प्रतीक अपनी समरूपता के कारण नहीं, वरन् विभिन्नताओं के कारण मनुष्य के व्यक्तित्व को निरूपित करने में अपना विशेष महत्त्व रखता है। वह रूढ़िगत न होकर लोचदार और चलनशील होता है तथा भाषिक प्रतीकविधान की यह जागरूकता मानवीय व्यक्तित्व को संस्कृति के विकास के चरणों में लक्षित करती है। मनुष्य के व्यक्तित्वनिर्माण की प्रक्रिया के प्रथम चरण में हम देखते हैं कि इस आदिम मानसिकता के स्तर पर इसकी प्रतीक रचनात्मक अभिव्यक्ति में भाव पक्ष के साथ भौतिक वस्तुगत विशेषताएं समाहित हैं। इसी कारण आदिम मानसिकता के स्तर पर देवता और उसके नाम को एकरूप माना गया है। बालक भी प्रारंभिक अवस्था में वस्तु और नाम का अंतर करने में समर्थ नहीं होता और अपने व्यक्तित्व के विकासक्रम में विभिन्न प्रतीकों के अर्थ को ग्रहण करना सीखता है।

संस्कृति की प्रगति को मानवीय व्यक्तित्व के संदर्भ में उसके जीवन में प्रतीकात्मक व्यवहार और विचार के महत्त्व के आधार पर समझना संभव है। मानवशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों में यद्यपि यह स्वीकार नहीं किया गया है कि मानवीय भाषा, काव्य और कला जैसे अभिव्यक्ति के स्रोतों को जैविक विकासक्रम में खोजना संभव नहीं है, पर उसके रचना के इस स्तर को मानवीय व्यक्तित्व की विशेषता के अर्थ में ही निरूपित किया जाना अपेक्षित है। यह भी उल्लेख किया गया है कि इस क्षेत्र में अनुभवपरक सामग्री और तथ्यों से सही निष्कर्ष तक पहुंचना संभव नहीं है। इस अनुभव और तथ्यों की सही व्याख्या मनुष्य के व्यक्तित्व के संदर्भ में ही संभव है। और इस दिशा में भाषा से विचार करना सही प्रस्थानबिंदु होगा। जीवविज्ञान की दृष्टि से व्यवस्थात्मक रूप में भाषा में विभिन्न तत्त्व और स्तर लक्षित होते हैं। भाषा के इन विभिन्न स्तरों को व्याख्यायित करने की प्रक्रिया में हम मनुष्य के व्यक्तित्व को समझ सकते हैं, हम उसकी इन परतों में मनुष्यों के अनुभव और भावजगत् को रूपायित होते पाते हैं। इससे भिन्न स्तर पर हम उसकी विचारप्रक्रिया को भाषा के प्रतीकविधान में प्रत्ययों के रूप में देख सकते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में उसके चरित्र के विभिन्न पक्ष अंतर्निहित होते हैं, ये पक्ष मनुष्य की भाषिक अभिव्यक्ति में भाव, विचार और अनुभव के संश्लिष्ट रूपों में संयोजित पाए जाते हैं। ❖

संयम संस्कृति का मूल है। विलासिता, निर्बलता और
अनुकरण के वातावरण में संस्कृति का विकास नहीं होता।

—काका कालेलकर

अनुभूति

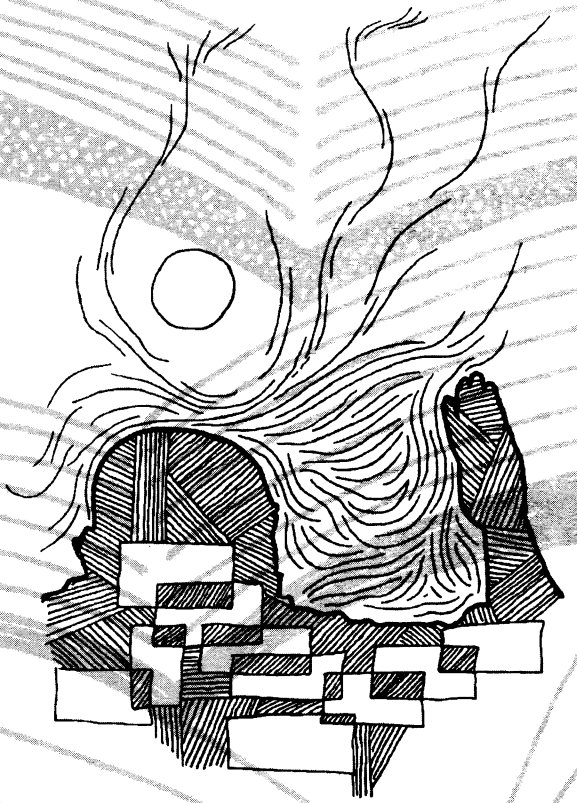

एक अंतहीन, परिवर्तनहीन धुंधली रोशनी, जो न दिन की है, न रात की है, न संध्या के किसी क्षण की ही है—एक अपार्थिव रोशनी जो कि शायद रोशनी भी नहीं है; इतना ही कि उसे अंधकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आई हूं कि कब्र में बड़ा अंधेरा होता है, लेकिन यहां उसकी भी असंपूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब-कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना संपूर्ण हो सकता। जो चुकता वह संपूर्ण चुक जाता; या जो रहता उसका बना रहना भी असंदिग्ध होता। यह हमारे युगों से संचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है—मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है।

—अज्ञेय

धीरे-धीरे जन-भावना में नया मोड़ आया। लोगों की सहानुभूति स्वामीजी के प्रति जगने लगी। उनके मार्ग में जो पहले बाधक बनना ही श्रेयस्कर मानते थे, कालांतर में वे श्रेयस की खोज में उन्हीं के पास आने लगे। जो नहीं आते, उनके मन में भी यह भावना उठने लगी कि कम-से-कम उनकी बात तो सुननी ही चाहिए। इन भावनाओं से प्रेरित होकर जो लोग स्वामीजी के पास आते, उन्हें वे आगमिक आधार से धर्म-अधर्म, व्रत-अव्रत आदि का तत्त्व बहुत ही विश्लेषणात्मक ढंग से समझाते। धीरे-धीरे लोग उनके सिद्धांतों की सत्यता को पहचानने और हृदयंगम करने लगे। अनेक व्यक्तियों ने स्वामीजी की शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण भी किया, परंतु स्वामीजी उस ओर से पूर्ववत् उदास ही बने रहे। वह उदासी संभवतः और भी लंबी चलती, पर एक प्रेरक घटना ने उनके जीवन-क्रम को ऐसा बदला कि सहसा ही वे एक जन-उद्धारक आचार्य के रूप में जन-जीवन में आ गए।

❑❑

संत भीखणजी : आत्मोद्धार और जनोद्धार के सेतु

❑ मुनि बुद्धमल्ल ❑

स्वामी भीखणजी का मूल लक्ष्य आत्मोद्धार था, पर जनोद्धार को भी वे महत्त्वपूर्ण कार्य मानते थे। उनके विचार से वह भी आत्मोद्धार का ही अंग था। संयम, स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चरण आदि के माध्यम से वे आत्मोद्धार के मार्ग पर निरंतर अग्रसर थे, तो व्याख्यान, ध्यान, धर्म-चर्चा और प्रश्नोत्तर आदि से आम-जन में धार्मिक संस्कार भरने में भी पूरी तरह प्रयत्नशील थे।

: चैत्र शुक्ला नवमी :
भिक्षु-अभिनिष्क्रमण दिवस
❑❑
निर्वाण द्विशताब्दी पर विशेष

वह समय उनके लिए बड़ा विकट था। उनका प्रत्येक कार्य बाधाओं और विरोधों से घिरा हुआ था। वे जहां भी पहुंचते, वहां उन्हें विरोध का कोई दावानल-सा ही सुलगता हुआ मिलता। उनके मार्ग में पग-पग पर कांटे बिछा देने में कोई कसर नहीं रखी जाती थी। गांवों में किसी-न-किसी षड्यंत्र में लोग संलग्न मिलते। जन-मानस में घृणा भर देने के लिए अनेक प्रकार की बातें फैलाई जातीं। कोई उन्हें 'निह्नव' करार देता, तो कोई गोशालक और जमाली से उनकी तुलना करता। कोई कहता—'उन्होंने देव, गुरु और धर्म को उठा दिया है। ये दान और दया के घोर विरोधी हैं। ये जीव को मारने में एक पाप और बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं, आदि।' कहा जाता है कि असत्य को सौ बार दुहरा देने से वह भी सत्य प्रतीत होने लगता है। स्वामीजी पर लगाए गए आरोप तो सहस्रों बार दुहराए गए थे। अतः जन-साधारण का उनसे भ्रांत हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

स्वामीजी के प्रति घृणा का ऐसा वातावरण बनाने के प्रयासों की तुलना जयाचार्य ने आगम-वर्णित[1] भृगु पुरोहित के प्रयास से की है। अपने पुत्रों के मन में उसने साधुओं के प्रति घृणा भरने की अत्यंत व्यग्रता के साथ चेष्टा की, परंतु उसका वह प्रयास पूर्णतः असफल रहा। वे कहते हैं :

भग्गु भिड़काया पुत्रां भणी, साधां में चूक बताय।
ज्यूं भिखु स्यूं भिड़काविया, ओ हिज मिलियो न्याय।।[2]

निराशा के क्षण

जनता में प्रायः गड्डरी-प्रवाह चलता है। सत्यासत्य के निर्णय की तत्परता तो विरल व्यक्ति में ही देखी जाती है, अधिकांश तो अनुकरण-प्रवण ही होते हैं। जब स्वामीजी के विरुद्ध वातावरण निर्मित किया जा रहा था, तब लगता कि

जैसे सर्वत्र एक ही हवा चल रही हो। स्वामीजी तथा उनके अनुयाइयों को कष्ट पहुंचाना, उन्हें अपमानित करना अथवा अपशब्द कह देना, मानो समाज में सम्मान प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र बन गया।

स्वामीजी चाहते थे कि भगवान महावीर के सिद्धांतों का शुद्ध स्वरूप जनता के सम्मुख रखा जाए। उसके प्रकाश में समग्र धार्मिक आचार-विचारों का विशदीकरण किया जाए, किंतु उस समय जनता की मानसिक स्थिति स्वामीजी के विचारों को सुनने और उन पर मनन करने के अनुकूल नहीं थी। विरोधियों के प्रचार ने स्वामीजी के विरुद्ध घृणा के भाव इतनी तीव्रता से उभार दिए थे कि साधारणतया कोई उनके पास जाता ही नहीं था। कभी कोई जाता भी तो तत्त्व-जिज्ञासु होकर नहीं, स्वामीजी को कुछ अवज्ञापूर्ण शब्द कहकर अपने मन की कुंठा निकालने के लिए ही।

लोगों की द्वेष-बुद्धि और अज्ञान को देखकर स्वामीजी को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने सोचा—'इस समय जनता धर्म-द्वेष से भरी हुई है। अंध-श्रद्धा का आवेग इतना तीव्र है कि सम्यक् दर्शन की ओर किसी का ध्यान नहीं है। स्थिति-पोषकता के विषमय वातावरण से बाहर निकलकर भगवान महावीर के उदात्त सिद्धांतों के मलय-पवन का आसेवन उनके चिर-दूषित फेफड़ों को अनुकूल नहीं लग रहा है। सत्य को विवेक की तुला पर न तोल कर सम्यक्-दर्शन की बातें भी—'करते आए हैं'—की तुला पर ही तोली जा रही हैं। ऐसी स्थिति में सम्यक् धर्म-प्रचार के लिए समय लगाना, जैसे समय को सर्वथा व्यर्थ गंवाना ही हो। जब लोग बात सुनने से ही कतराते हों तो शुद्ध श्रद्धा धारण कर श्रावक-श्राविका बनने तथा चारित्र धारण कर साधु-साध्वी बनने की बातें तो बहुत दूर की हैं। धर्म-प्रचार संभव नहीं है, तब मुझे उस ओर से ध्यान हटाकर समभाव से आत्म-कल्याण पर ही अपने-आप को केंद्रित कर लेना चाहिए।'

उक्त विचार के पश्चात् स्वामीजी ने अपनी शक्ति को स्वकल्याण की ओर मोड़ दिया।

लोमहर्षक तपस्या

स्वामीजी के जीवन में वे क्षण अत्यंत दुविधापूर्ण थे। संतजनों की परंपरा में स्व-पर कल्याण का मार्ग चिर-परिचित और चिर-अनुष्ठित रहा है, परंतु स्वामीजी को उस उभयात्मक क्रम से हटकर एकात्मक क्रम पर लगना पड़ा। जीवनक्रम को इस प्रकार सहसा बदल लेना बहुत कठिन होता है। वैसे क्षणों में साधारण व्यक्ति परिस्थितियों के सम्मुख हार मान लेता है और निराश होकर बैठ जाता है, परंतु स्वामीजी एक असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने न तो परिस्थितियों के सम्मुख हार मानी और न निराश होकर ही बैठे। चट्टान से अवरुद्ध होने पर जिस तरह स्रोत अपना मार्ग जरा हट कर निश्चित कर लेता है, फिर भी उस चट्टान से लगातार टकराता रहता है और एक दिन उसकी जड़ खोद डालता है, वैसे ही जन-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध पाकर स्वामीजी ने स्वयं को पूर्ण वेग से आत्म-कल्याण की ओर लगा दिया। उनका संघर्षशील जीवन अंध-श्रद्धा और अंध-परंपरा से संधि करने को कभी उद्यत नहीं हुआ। जन-कल्याण और आत्म-कल्याण—इन दो प्रवाहों में बहने वाली जीवन की धारा का रुझान केवल आत्म-कल्याण की ओर ही हो जाने से उसमें और भी प्रखरता आ गई।

उन्होंने अन्य सहयोगी साधुओं के साथ एकांतर तप प्रारंभ कर दिया। वे नित्य-प्रति सूर्य की आतापना भी लेने लगे। चौविहार उपवास, ग्रीष्म-ऋतु के दिन, मरु प्रदेश की झुलसा डालने वाली लू के झोंके और अंगार जैसी उत्तप्त वन्य धूलि—इन सबको मन की कल्पना में समन्वित करके जब स्वामीजी और उनके साथी साधुओं की उस तपस्या को समझने का प्रयास किया जाए तो रोमांच होने लगता है। उनकी ऐसी लोमहर्षक तपस्या इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि उनमें आत्म-कल्याण की भावना कितनी उत्कट रही होगी।

पारणे के दिन भी स्वामीजी सहित सभी साधु गांव से यथाप्राप्त आहार-पानी लेकर जंगल में चले जाते। किसी वृक्ष की छाया में प्रासुक स्थान देखकर आहार-पानी को वहां रख देते और फिर आतापना लेने के लिए अंगारों से भरी अंगीठी की तरह धधकती हुई रेतीली धरती पर लेट जाते। आतापना के साथ-साथ ध्यान तथा स्वाध्याय का कार्य भी चलता रहता। उस कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् भी वे दिनभर जंगल में ही रहते और वहीं गांव से लाया हुआ आहार-पानी ग्रहण करते। सायंकाल होने पर वापस गांव में आ जाया करते। जन-संपर्क के प्रायः सभी सूत्र तो उन्होंने स्वयं विच्छिन्न कर दिए थे। तपस्या के द्वारा अपने-आप को अधिकाधिक कस लेना ही उनका उस समय ध्येय हो गया था।

महापुरुषों की परंपरा में

विरोधी लोग स्वामीजी को कष्ट देने का प्रयास लगातार करते थे, पर स्वामीजी अपनी तपस्या के बल पर

मानो यह जतला देना चाहते थे कि जो लोग उन्हें कष्ट पहुंचाना चाहते हैं, वे जान लें कि उससे भी कहीं अधिक कष्ट सहने की क्षमता हम रखते हैं। कष्ट और तपस्या में वस्तुतः अंतर ही क्या है। भावनाहीन तपस्या जिस तरह कष्ट बन जाती है, वैसे ही समभाव से सहा गया कष्ट तपस्या बन जाता है। जनता की दृष्टि में जो कष्ट था, स्वामीजी की दृष्टि में वह कर्म-विनाश का एक साधन था। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक कष्ट के सामने अपने-आप को पूर्ण रूप से उपस्थित किया और पूरी शक्ति के साथ उसका सामना किया। उन्होंने कष्ट-भोग को दैन्यता से उठाकर वीरत्व के सिंहासन पर ला बिठाया।

महापुरुषों की परंपरा में कष्ट-सहन की जो अनिवार्यता देखी गई है, स्वामीजी उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? उन्होंने कष्ट सहे और वीरतापूर्वक सहे। अपना मार्ग चुनते समय उन्हें आगामी कष्टों का भान नहीं हो—ऐसी बात नहीं थी। वे जानते थे कि जरा-सा झुक कर या स्थिति-पोषकता के महायंत्र का एक पुर्जा बनकर वे दुख के स्थान में परिपूर्ण सुख पा सकते हैं, किंतु उन्हें वह स्वीकार्य नहीं था; किसी भी महापुरुष को स्वीकार्य नहीं हो सकता। उसका मार्ग तो कांटों के ऊपर से ही जाता है। कष्ट तो उसके उस महत्त्वपूर्ण जीवन के संबल होते हैं।

करेंगे या मरेंगे

- स्वामीजी अपने कार्य को प्राणों की बाजी लगाकर करने वाले व्यक्ति थे। वे उन वीर पुरुषों में थे जो या तो कार्य को कर लेते हैं, या फिर उसकी सिद्धि में अपने को मिटा देने को ही उद्यत रहते हैं। यही दृढ़ता उनकी सफलता का मंत्र था। अपने कष्टमय जीवन और उसके पश्चात् मिली आशातीत सफलता का उल्लेख करते हुए और अपने संस्मरण सुनाते समय उन्होंने मुनि हेमराजजी को जो-कुछ कहा, वह उनकी इसी दृढ़ता को सिद्ध करता है। उनके वे प्रेरक शब्द इस प्रकार हैं :

म्हे उणा नै छोड्या जद पांच वर्ष तांई तो पूरो आहार न मिल्यो...। आहार-पाणी जाच नै उजाड़ में सर्व साध परहा जावता। रूंखरा री छांयां आहार-पाणी मेल नै आतापना लेता। आथण रा पाछा गांव में आवता। इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता। म्हे या न जाणता, म्हारो मारग जमसी, नै म्हां में यूं दीक्षा लेसी, नै यूं श्रावक-श्राविका हुसी। जाण्यो, आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां, इम जाण नै तपस्या करता....।[3]

स्वामीजी के उपर्युक्त कथन से यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्हें अनेक वर्षों तक जनता की उत्कट अवज्ञा का सामना करना पड़ा। जितनी सफलता उन्हें मिली थी, स्वयं उन्हें उसकी कोई आशा नहीं थी। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने निश्चय से अंशमात्र भी विचलित होने वाले नहीं थे। जनता का सहयोग न मिलने पर वे अकेले ही अभीष्ट मार्ग पर बढ़ चले थे। समकालीन न होते हुए भी कवींद्र रवींद्र की निम्नोक्त पंक्तियां उनके उस एकाकी गमन पर बहुत ही ठीक उतरती हैं :

जदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तवे एकला चलो रे।
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे।।

अर्थात् 'यदि तुम्हारा आह्वान सुनकर भी कोई साथ चलने को उद्यत न हो तो तुम अकेले ही चल पड़ो, अकेले ही चल पड़ो।'

सत्य तथा न्याय के पथ पर चलते रहने का स्वामीजी का अद्वितीय आग्रह भर्तृहरि के इस सूक्त को याद दिला देता है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।[4]

अर्थात् 'धीर पुरुष न्याय-पथ से एक पग भी इधर-उधर नहीं होते। ऐसा करने में लोग चाहे उनकी निंदा करें या स्तुति, संपत्ति ठहरे या जाए, मृत्यु चाहे आज ही आ जाए या युगों के बाद, वे उनकी कोई परवाह नहीं करते।' **आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां**—स्वामीजी के ये शब्द—**कार्यं वा साधयेयं, देहं वा पातयेयम्** अर्थात्—'करेंगे या मरेंगे' की भारतीय ऋषि-मानस से उद्भूत शाश्वत प्रतिज्ञा एक बार फिर से दुहराई जा रही थी। उनकी वह अपराजेय प्रतिज्ञा ही उनके जीवन-सूत्र की संचालक थी।

जनभावना में मोड़

स्वामीजी की तपस्या गतिमान थी। उनका समस्त समय प्रायः अपनी धर्म-क्रियाओं में ही लगने लगा। लोगों पर विशेष परिश्रम करने का उनका ध्येय नहीं रहा। कोई आ जाता और जिज्ञासा करता तो उत्तर दे देते, अन्यथा अपने ही चिंतन-मनन में लगे रहते।

एकांत साधना और मौन तपस्या का धीरे-धीरे, पर अज्ञात रूप में जनता पर प्रभाव पड़ने लगा। लोग समझने

लगे कि जो व्यक्ति शुद्ध जीवन के लिए प्राणों की भी बाजी लगा सकता है, वह कोई सामान्यजन नहीं, बहुत बड़ा त्यागी और महान व्यक्ति ही हो सकता है। साधारणजन की तरह उसकी क्षमताएं मात्र खान-पान जैसी बातों में ही उलझ कर नहीं रह जातीं। उसकी दृष्टि बहुत गहरी और लक्ष्य बहुत ऊंचा होता है। वह इंद्रियों का दास बनकर नहीं, किंतु स्वामी बनकर जीने वाला होता है।

धीरे-धीरे जन-भावना में नया मोड़ आया। लोगों की सहानुभूति स्वामीजी के प्रति जगने लगी। उनके मार्ग में जो पहले बाधक बनना ही श्रेयस्कर मानते थे, कालांतर में वे श्रेयस की खोज में उन्हीं के पास आने लगे। जो नहीं आते, उनके मन में भी यह भावना उठने लगी कि कम-से-कम उनकी बात तो सुननी ही चाहिए। इन भावनाओं से प्रेरित होकर जो लोग स्वामीजी के पास आते, उन्हें वे आगमिक आधार से धर्म-अधर्म, व्रत-अव्रत आदि का तत्त्व बहुत ही विश्लेषणात्मक ढंग से समझाते। धीरे-धीरे लोग उनके सिद्धांतों की सत्यता को पहचानने और हृदयंगम करने लगे। अनेक व्यक्तियों ने स्वामीजी की शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण भी किया, परंतु स्वामीजी उस ओर से पूर्ववत् उदास ही बने रहे। वह उदासी संभवतः और भी लंबी चलती, पर एक प्रेरक घटना ने उनके जीवन-क्रम को ऐसा बदला कि सहसा ही वे एक जन-उद्धारक आचार्य के रूप में जन-जीवन में आ गए।

एक प्रेरणा

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को जब बोधि प्राप्त हुई, तब उन्हें लगा कि सुखैषी लोग उनकी बात नहीं सुनेंगे, अनुसरण नहीं करेंगे। अतः एकांत में मौन धारण कर रहना ही ठीक होगा। उस समय ब्रह्मदेव ने आकर उन्हें प्रेरणा दी कि धर्म को समझने वाले अनेक लोग आपको मिलेंगे—आप उपदेश दें। आपके मौन से उन धर्म-जिज्ञासुओं को भारी हानि हो रही है, जो आपके धर्म-वाक्य सुनकर उद्‌बुद्ध होने वाले हैं।

स्वामी भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी। उन्हें भी मौन साधना करते देखकर, दो साधुओं ने धर्म-प्रचार के लिए प्रेरित किया। उन प्रेरक संतों के नाम थे—मुनि थिरपालजी और मुनि फतहचंदजी। वे दोनों ही साधु आचार्य जयमलजी के टोले से स्वामीजी के साथ आए थे। वे दोनों संसार-पक्ष से पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र और विचारशील साधु थे। स्थानकवासी संप्रदाय में रहते समय वे दीक्षा पर्याय में स्वामीजी से बड़े थे। परमार्थी और नम्र स्वभावी स्वामीजी ने अपनी निरहंकारिता और उदारता का परिचय देते हुए भाव-चारित्र लेते समय भी उन्हें दीक्षा-पर्याय में अपने से बड़ा ही रखा। पर्याय-वृद्ध संतों के प्रति स्वामीजी की आदर-भावना का यह सजीव उदाहरण कहा जा सकता है।

दोनों साधुओं ने कई बार जब देखा कि लोग स्वामीजी के पास आते हैं, जिज्ञासा करते हैं और अंततः समझते भी हैं, पर स्वामीजी उन पर विशेष ध्यान नहीं देते, तब एक दिन वे आए और विनयपूर्वक स्वामीजी से निवेदन करने लगे—'आप तपस्या के द्वारा अपने शरीर को इस प्रकार क्षीण मत कीजिए। तपस्या करने के लिए तो हम बहुत हैं, क्योंकि इससे आगे हमारी पहुंच नहीं है। आप धर्म-प्रचार कर सकते हैं। आपकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि, अगाध शास्त्र-ज्ञान, मर्मस्पर्शी प्रतिपादन-शैली और भावोपयुक्त भाषा आमजन को आलोकित कर सन्मार्ग दिखला सकती है। आप भगवान महावीर के अमृतमय धर्म का जनता को उपदेश दीजिए। आपके द्वारा प्रतिपादित धर्म-रहस्य को हृदयंगम करने की योग्यता रखने वाले अनेक व्यक्ति आपको मिलेंगे। जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनकी ज्ञान-शक्ति पर काई आई हुई है, पर आपके धर्म-वाक्य कान में पड़ने से वह कटेगी और जनता को ज्ञान-लाभ होगा। आपने जो आलोक पाया है, उस पर समस्त संसार का अधिकार है, क्योंकि आप समस्त संसार के आत्मीय हैं। अपने इस आलोक को मुक्त-भाव से बांटिए। हमें विश्वास है कि वह उत्तरोत्तर फैलेगा और जनता उससे अपना लक्ष्य प्राप्त करेगी।'

प्रेरणा की प्रतिक्रिया

मुनि-युगल के अंतःकरण से निकली हुई सहज वाणी ने स्वामीजी के हृदय को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने उस सत्परामर्श को सम्मान देते हुए कहा—'मुनिजनो! आप दोनों रात्निक हैं, अतः पूजनीय हैं। आपकी यह लोक-हितैषिता बहुत ही प्रशंसनीय है। आप जिस कार्य की प्रेरणा देने आए हैं, वह तो मेरे स्वभाव के सदा अनुकूल है, किंतु जनता की उदासीनता ही उसमें बाधक थी। आज आपके सरल हृदय से उद्‌गत विचारों ने जो मांग की है, मैं उसे ठुकराऊंगा नहीं। आपकी भविष्य-वाणी को कार्यरूप में परिणत करने के लिए जिस प्रयास की आवश्यकता है, उसका भार अपने ऊपर लेने में मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है।'

मुनि थिरपालजी और मुनि फतहचंदजी अपने परामर्श की सहज स्वीकृति से गद्‌गद हो उठे। अवसर पर दी गई उक्त छोटी-सी प्रेरणा उस समय केवल एक सामान्य बातचीत ही थी, परंतु आज वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य एक विशिष्ट गौरवपूर्ण घटना के रूप में हमारे सामने है। स्वयं उन प्रेरकों को भी उस समय यह अनुमान नहीं होगा कि उनकी वह साधारण-सी प्रेरणा लाखों जीवों के कल्याण की हेतु बनकर संसार के लिए एक अलौकिक देन सिद्ध होगी तथा जैन समाज के जीवन में एक नया मोड़ ला देगी। स्वामीजी के जन-उद्धारक जीवन का सूत्रपात करने का श्रेय इसी घटना को जाता है।

धर्म-प्रचार की ओर

स्वामीजी उसी दिन से धर्म-प्रचार की ओर विशेष ध्यान देने लगे। जो लोग जिज्ञासु बनकर आते, उन पर अथक परिश्रम करते। आगम-न्याय के आधार पर उनके हृदय में सम्यक्-दर्शन का बीजारोपण करते। लोगों का आगमन क्रमशः बढ़ने लगा। तात्त्विक विचारों की जिज्ञासा जोर मारने लगी। अनेक व्यक्तियों ने धर्म के मर्म को समझा और उसे ग्रहण किया।

स्वामीजी उस समय मारवाड़ में विहार कर रहे थे। केलवा-चातुर्मास के पश्चात् बहुत स्वल्प समय तक ही वे मेवाड़ में ठहरे प्रतीत होते हैं। तपस्या प्रारंभ करने से लेकर मुनि-द्वय द्वारा धर्म-प्रचारार्थ दी गई प्रेरणा तक की सभी घटनाएं मारवाड़ में ही घटित हुईं। स्वामीजी जब पुनः धर्म-प्रचार में लगे, तब मारवाड़ में अच्छी धर्म-जागरणा हुई। उससे उत्साहित होकर वे पुनः मेवाड़ में पधारे। **प्रगढ़ मेवाड़ में पूज्य पधारिया**[5]—जयाचार्य का यह पद्यांश इसी बात की ओर इंगित करता है।

मारवाड़ की ही तरह मेवाड़ में भी उन्होंने लोगों की जिज्ञासा-वृत्ति को अतिशय जागरित पाया। यद्यपि उनकी द्वेष-बुद्धि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, फिर भी वे आते और धर्म-चर्चा करते। सौ में से दो तो समझते ही। स्वामीजी उतने मात्र से भी अपने श्रम को सफल मानते। दिनभर लोगों को समझाते रहने पर स्वामीजी को लगा कि अपने विचारों को जन-सुलभ बनाने के लिए उन्हें पद्य-बद्ध कर देना चाहिए। तभी से उन्होंने आचार, अनुकंपा, व्रत, अव्रत आदि तत्कालीन चर्चास्पद विषयों पर 'जोड़'—पद्य-रचना प्रारंभ की।[6] उसके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन जिज्ञासाओं को जहां समाहित किया, वहीं आगम-सम्मत विचारों की बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री भी संकलित कर दी। कालांतर में तो उन्होंने नौ पदार्थ, श्रावक के बारह व्रत और श्रद्धा आदि अनेक विषयों पर विवेचनात्मक तथा प्रेरणास्पद ग्रंथों का निर्माण किया।

जन-उद्धार के लिए विभिन्न प्रदेशों में स्वामीजी के विहार और प्रत्यक्ष परिचय ने जितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उतना ही उनके ग्रंथों ने भी किया। साधारण श्रावक भी उनकी गीतिकाओं को सीखकर जहां तत्त्व तथा आचार-विषयक विशेषज्ञ हो जाते थे, वहीं उस समय चलने वाले शास्त्रार्थों या चर्चाओं में भी वे अजेय हो जाया करते थे।

आत्म-बल ही सहायक

स्वामीजी के पास उस समय हर प्रकार की सामग्री का प्रायः अभाव ही था। वे जहां भी जाते, अधिकांश व्यक्ति वहां उनके विरोधी होते, बहुधा सहायक तो कोई नहीं होता। यदि कोई होता भी, तो सामाजिक बहिष्कार के भय से वह खुलकर सामने नहीं आ पाता। प्रत्येक गांव में शास्त्रार्थ या चर्चा का वातावरण प्रायः बना रहता। अपने विरुद्ध प्रचारित की गई भ्रांतियों का निराकरण करने में भी उन्हें काफी शक्ति लगानी पड़ती। स्वामीजी सहित आठ साधुओं का छोटा-सा संघ और अंगुलिगणनीय श्रावक-वर्ग—बस, इसी नगण्य समूह के बल पर उन्होंने अपना कार्य शुरू किया। उस समय कोई प्रबल सहायक उनका था, तो वह एकमात्र उनका आत्म-बल ही था। उसी के आधार पर उन्होंने ऐसा कार्य कर दिखाया, जैसा हर प्रकार की साधन-संपन्नता में भी हो पाना संभव नहीं लगता। चारों ओर से घुमड़ कर आती हुई विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने कभी अपना धैर्य नहीं खोया और उन सभी पर धीरे-धीरे विजय प्राप्त कर ली। यह उनके व्यक्तित्व की विरल-प्राप्य विशेषता थी।

संस्कृत-कवि वागीश्वर ने एक नीति-श्लोक में लंका-अभियान के समय राम की विषम स्थितियों का वर्णन करते हुए लिखा है—

विजेतव्या लङ्का चरण-तरणीयो जलनिधिः,
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद् राक्षस-कुलं,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।।

अर्थात् 'लंका जैसी दुर्जेय नगरी को जीतना था, समुद्र के अगाध जल को लांघना था, रावण जैसे बलिष्ठ शत्रु से भिड़ंत थी, रण-भूमि में सहायक थे—मात्र बंदर, फिर भी

अकेले राम ने समग्र राक्षस-वंश को पराजित कर दिया, क्योंकि कार्य-सिद्धि महापुरुषों के आत्म-बल पर जितनी आधारित होती है, उतनी बाह्य उपकरणों पर नहीं।' राम की उपर्युक्त स्थिति से स्वामीजी की तत्कालीन स्थिति बहुत-कुछ मेल खाती है। उनकी विजय का मूल भी उन्हें प्राप्त साधारण साधन-सामग्री में नहीं, किंतु उनके अपार आत्मबल में निहित था। अन्यथा उतने बड़े सुनियोजित विरोध के सम्मुख अकेले व्यक्ति का टिक पाना और फिर उसमें विजय प्राप्त करना असंभव ही होता। स्वामीजी के एकमात्र आत्मबल ने ही वहां असंभव को भी संभव कर दिखाया। उसी के बल पर वे सभी समस्याओं के सम्मुख अडिग धैर्य के साथ डटे ही नहीं रहे, अपितु उन सभी को परास्त भी किया।

संदेशवाहक

धीरे-धीरे उन्हें प्रचार-कार्य में अकल्पनीय सफलता मिलने लगी। लोग उनसे अपने-अपने गांवों में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। क्वचित् ग्राम के ग्राम उनके भक्त बन गए। उस भक्ति-भाव से स्वामीजी का मन कभी अहंकार-पूरित नहीं हुआ। वे तो अपने-आप को भगवान का एक संदेश-वाहक ही मानते रहे। केलवा के रावल ठाकुर मोखमसिंहजी के एक प्रश्न पर दिए गए उत्तर से उनकी यह भावना एकदम स्पष्ट हो जाती है। एक बार केलवा में स्वामीजी विराजमान थे। धर्म-परिषद् जुड़ी हुई थी। रावल मोखमसिंहजी दर्शन करने तथा व्याख्यान सुनने के लिए आये। व्याख्यान के पश्चात् वे बातचीत करने के लिए उपपात में बैठ गए। कुछ लोग बाहर से आए हुए थे। वे स्वामीजी से अपने यहां पधारने के लिए प्रार्थना कर रहे थे। स्वामीजी जब उनसे निवृत्त हुए तो रावलजी ने प्रश्न करते हुए कहा—'स्वामीजी! आपके पास गांव-गांव की प्रार्थनाएं आती हैं, लोग आपकी इतनी भक्ति करते हैं, आपको अपने यहां आया देखकर हर्ष-विभोर हो उठते हैं। ऐसी क्या विशेषता है आप में कि जिससे आपके प्रति लोगों का इतना आकर्षण है?'

स्वामीजी ने कहा—'जिस प्रकार किसी पतिव्रता नारी का पति परदेश में हो और उसका संदेशवाहक बनकर कोई व्यक्ति उसके यहां आए, तो वह बहुत प्रसन्न होती है, उसको ससम्मान पास में बिठाकर सारे समाचार पूछती है, भोजन आदि सुविधाओं की भी व्यवस्था करती है। संदेशवाहक का वह सम्मान उसकी अपनी गुण-गरिमा से नहीं, किंतु पति का संदेश लेकर आने से होता है। ठीक उसी प्रकार जनता हमारा जो सम्मान करती है तथा हमें जो चाहती है—उसका कारण भी यही है कि हम भगवान के संदेशवाहक हैं। हम उन्हें भगवद्-वाणी सुनाते हैं। उससे सभी को आत्म-सुख और शांति की प्राप्ति होती है।'[7]

ठाकुर मोखमसिंहजी का उपर्युक्त प्रश्न तथा स्वामीजी का उत्तर—इस बात के प्रमाण हैं कि स्वामीजी जब धर्म-प्रचार की ओर ध्यान देने लगे तब जनता में उनके प्रति आकर्षण बढ़ा और वह उनकी भक्त बनने लगी। स्वामीजी में एक चुंबकीय शक्ति थी, जिससे लोग स्वतः ही उनकी ओर आकृष्ट होते चले जाते। जो लोग स्वामीजी के भक्त बने, उनके प्रति उनके पूर्ववर्तियों ने संभवतः पूर्ण निराश होकर ही यह कहा होगा—**भीखण रा भरमाया, कदे न पाछा आया।** स्वामीजी वस्तुतः एक महान साधक, महान सुधारक, महान आचार्य तथा महान जन-उद्धारक पुरुष के रूप में इस धरती पर आए और अपने लक्ष्य में पूर्णरूपेण सफल होकर जनता के हृदयेश्वर बन गए।

चतुर्विध संघ

जैन परंपरा में संघ की परिपूर्णता उसकी चतुर्विधता में मानी गई है। प्रारंभिक वर्षों में तेरापंथ में साध्वियां नहीं थीं। लगभग चार वर्षों तक वह त्रिविध ही रहा। उस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए एक दिन किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'भीखणजी! तुम्हारे संघ में तो केवल तीन ही तीर्थ हैं—साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियों के अभाव में तुम्हारे संघ का यह मोदक अपूर्ण ही है।'

स्वामीजी ने उस व्यंग्य का उत्तर देते हुए कहा—'हमारा यह मोदक अपूर्ण भले ही हो, पर है चौगुनी चीनी का। इसलिए जितना है, उतना पूर्ण रूप से स्वादिष्ट है।'[8]

स्वामीजी ने अपने इस उत्तर से यह भी समझा दिया कि जिस प्रकार चीनी के अभाव में पूरा मोदक स्वादहीन होता है, उसी प्रकार चारित्र के अभाव में संघ की चतुर्विधता भी महत्त्वहीन ही होती है। जिस संघ में गुणी तथा चारित्रवान व्यक्ति रहते हैं—वहां चतुर्विधता चाहे न हो, पर उसकी महत्ता और वास्तविकता कहीं नहीं जाती।

इस घटना के थोड़े दिनों बाद ही स्वामीजी के संघ में दीक्षित होने के लिए तीन बहिनें आईं। तीनों ने एक साथ मिलकर स्वामीजी से अपनी दीक्षा की भावना निवेदित की।

स्वामीजी प्रत्येक कार्य को अत्यंत दूरदर्शिता और सावधानी से किया करते थे। अपने स्वभावानुसार उन्होंने सोचा कि जैनागमों के नियमानुसार कम-से-कम तीन साध्वियों का साथ रहना आवश्यक है। यदि इनके प्रव्रजित होने के पश्चात् किसी एक का भी वियोग हो जाए, तो शेष दो साध्वियों के लिए 'संलेखना' के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। अपना यह विचार स्वामीजी ने दीक्षार्थिनी बहिनों के सम्मुख रखा और दीक्षा लेने से पूर्व उस पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लेने के लिए कहा।

तीनों ही बहिनों ने उस बात पर गहराई से विचार कर स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि हम में से किसी एक का वियोग हुआ, तो शेष दो संलेखनापूर्वक शरीर विसर्जन के लिए प्रस्तुत रहेंगी। बहिनों के उस वीरता-सूचक उत्तर से स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके वैराग्य-भाव से तो वे पहले से ही आश्वस्त थे, अब उनकी दृढ़ता का भी परिचय मिल गया। इस प्रकार पूर्ण परीक्षा कर लेने के पश्चात् स्वामीजी ने तीनों बहिनों को एक साथ दीक्षा प्रदान की। तेरापंथ में सर्वप्रथम दीक्षित उन साध्वियों के नाम क्रमशः कुशलांजी, मट्टूजी और अजबूजी थे।

साध्वियों के तीर्थ की वह स्थापना संवत् 1821 में हुई। तेरापंथ की क्रमिक विकासशीलता में उक्त घटना को एक नई कड़ी कहा जा सकता है। चतुर्विधता की उस पूर्ति के पश्चात् वह परंपरा निरंतर चालू रही। यद्यपि उन तीनों साध्वियों में से एक अजबूजी को प्रकृति की खराबी के कारण कालांतर में संघ से पृथक् कर दिया गया, फिर भी शेष साध्वियों के समक्ष संलेखना करने की कोई परिस्थिति पैदा नहीं हुई, क्योंकि उस समय तक और भी बहिनें दीक्षित हो चुकी थीं।

स्वामीजी के विचारों को आम-जन धीरे-धीरे, किंतु विचारपूर्वक अपनाते चले गए। श्रावकों-श्राविकाओं की संख्या संतोषजनक क्रम से वृद्धिंगत होती रही। बहिनों की दीक्षा हो जाने के पश्चात् संघ की त्रिविधता भी चतुर्विधता में परिणत हो गई, परंतु साधुओं की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। वह आठ की आठ ही रही। अनेक वर्षों तक न कोई भाई दीक्षित हुआ और न अन्य संघों से आकर कोई सम्मिलित ही हुआ। वह सिलसिला तब शुरू हुआ, जब संवत् 1822 में मुनि सुखरामजी दीक्षित हुए। वे नवम साधु थे।

यद्यपि तेरापंथ के नामकरण में साधुओं की तेरह संख्या का महत्त्वपूर्ण योग है, फिर भी लंबे समय तक वह संख्या पुनः प्राप्त नहीं की जा सकी। संवत् 1844 और 47 के बीच में एक बार संतों की संख्या 12-14 हुई थी, परंतु वह अल्पकालिक ही सिद्ध हुई। उस अस्थाई संख्या को नगण्य मानकर कहा जा सकता है कि लगभग 36 वर्षों तक संघ में आठ और बारह के बीच में ही साधु रहे। तेरहवीं संख्या की स्थाई पूर्ति संवत् 1853 में तब हुई, जब स्वामीजी के पास मुनि हेमराजजी ने दीक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात् उस संख्या में कभी ह्रास नहीं हुआ।[9] तेरापंथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुतः वहीं से प्रारंभ हुआ समझा जाता है।

आज हम देख रहे हैं कि 243 वर्ष की तेरापंथ की अवधि में कुल 807 साधु व 1696 साध्वियां दीक्षित हो चुके हैं तथा वर्तमान में (जुलाई, 2003 तक) यह संख्या 685 है। साधु 149, साध्वी 536, समण 4, समणी 101 हैं। तेरापंथ ने सांप्रदायिक बाड़ेबंदी को तोड़ा है और जैन-जैनेतर अगणित संख्या में तेरापंथ के दर्शन और क्रिया-कलापों से सक्रिय जुड़ाव रखते हैं। तेरापंथ ने भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण भी किया है। तेरापंथ आज विश्वजनीन संगठन है। आदिपुरुष भीखणजी की ही तरह तेरापंथ आत्मोद्धार के साथ जनोद्धार में भी सक्रिय है। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान आज जन-जन के लिए समाधानकारी अवलंबन सिद्ध हो रहे हैं।

❖

संदर्भ

1. उत्तराध्ययन; अ. 14।
2. भिक्षु जस रसायन; 9, दोहा 5।
3. भिक्खु दृष्टांत; द्र. 276।
4. नीतिशतक; श्लोक 84।
5. भिक्षु जस रसायन; 10/10।
6. जिन रचनाओं में स्वामीजी ने रचना-काल नहीं दिया है, कहा जाता है कि वे सब उक्त प्रारंभ-काल की रचनाएं हैं।
7. भिक्खु-दृष्टान्त, द्र. 87।
8. भिक्खु-दृष्टान्त, द्र. 22।
9. भिक्षु जस रसायन; 1/14

   द्वादश मुनि था तेपनै, स्वाम भिक्खु रै जोय।
   तब हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय।।

❖❖

यदि बुनियाद ही कमजोर है तो भवन टिकेगा किस पर? इसी तरह दृष्टिकोण गलत है तो न ज्ञान सही होगा और न आचरण। दृष्टिकोण सही है तो आचार और व्यवहार की दिशा अपने-आप बदल जाएगी। जिसका दर्शन सम्यक् है, वह कहीं स्खलित हो भी गया तो पुनः संभल जाएगा। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या है तो ढलान में बहते जलप्रवाह की तरह उसके स्खलन को रोक पाना मुश्किल है। अतः हम आचार के प्रासाद को ऊंचा उठाने से पूर्व नींव को मजबूत बनाएं। वह नींव है—सम्यक् दृष्टिकोण। सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति की हर क्रिया फलवान होती है। वह एक सार्थक निष्पत्ति लिए होती है।

❑❑

सम्यक् दृष्टिकोण : सार्थक निष्पत्ति

❑ साध्वी मुदितयशा ❑

लंदन निवासी स्टीफन हॉकिन्स विश्व के महानतम वैज्ञानिकों में से एक हैं। वे न मुंह से बोल पाते हैं और न पैरों से चल पाते हैं। 'व्हील चेयर' उनका एकमात्र आधार है। जब वे सोलह वर्ष के थे, डॉक्टरों ने घोषणा कर दी, यह बालक छह माह से ज्यादा जी नहीं पाएगा। वही बालक जीवन के पचास बसंत पूर्ण कर चुका है। उन्होंने 'स्पेस' की दृष्टि से जो नई खोज की है, वह विज्ञान-जगत् की एक बड़ी उपलब्धि है। शिखर तक का सफरनामा तय करने वाले इस व्यक्तित्व की सफलता का राज है—सकारात्मक सोच और दृढ़ संकल्पशक्ति।

एक स्वस्थ और सर्वांग-संपन्न व्यक्ति विकास की दौड़ में पिछड़ जाता है—ऐसा क्यों? एक विकलांग और पराश्रयता का जीवन जीने वाला अपनी मस्तिष्कीय क्षमता से पूरी दुनिया को चमत्कृत कर देता है। उसकी विकास की रफ्तार सामान्य व्यक्ति से कई गुना तेज होती है—ऐसा क्यों?

इन दोनों प्रश्नों का एक शब्द में समाधान है—व्यक्ति का दृष्टिकोण। जिसका दृष्टिकोण सही है, सफलताएं सदा उसके इर्द-गिर्द रहेंगी। सकारात्मक दृष्टि वाले लोग निराशा, कुंठा और अवसाद से बहुत दूर रहते हैं। वे पीछे मुड़कर देखने की बजाय आगे बढ़ने की बात ज्यादा सोचते हैं। कठोर परिश्रम के बावजूद कुछ न मिल पाने का अफसोस उन्हें कभी सताता नहीं। वे अवरोधों में भी नया रास्ता ढूंढ़ लेते हैं। सफलता का लक्ष्य सदा उनकी आंखों के सामने रहता है। फलतः असफलता की आशंका उनके पुरुषार्थ को मंद नहीं कर पाती।

एक व्यक्ति रात्रि के समय घिर आए अंधकार को देखता है, दूसरा अंधेरी रात के बाद आने वाली सुहावनी भोर की प्रतीक्षा करता है। एक व्यक्ति अवसर न मिल पाने की शिकायत में पूरा जीवन खो देता है, दूसरा जीवन के हर मोड़ पर अवसर की तलाश कर लेता है। एक व्यक्ति आधी भरी गिलास को आधा भरा कहकर अपनी सकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, दूसरा उसे आधा खाली बताता है। यह सारा अंतर दृष्टिकोण का है।

दृष्टिकोण के नियामक : आनुवंशिकता और वातावरण

हमारे दृष्टिकोण का निर्माण किन घटक तत्त्वों के योग से होता है—यह एक अहम सवाल है। विचार करने पर दो प्रमुख कारण उभरकर हमारे सामने आते हैं—आनुवंशिकता और वातावरण।

जीवन वही नहीं जो हमारे सामने दृश्यमान है। अतीत की एक लंबी शृंखला भी हमारे जीवन के साथ जुड़ी हुई होती है। इसी तरह अदृश्य अतीत के प्रकंपन भी व्यक्ति की सोच और जीवनशैली को बहुत प्रभावित करते हैं। विगत

जन्म में जिसके संवेग सहज-शांत थे, दृष्टिकोण निर्मल था—संभावना की जा सकती है कि इस जीवन में भी उसका दृष्टिकोण निर्मल रहेगा, भावधारा पवित्र रहेगी। इसी तरह पूर्वजों के संस्कार भी चाहे-अनचाहे अगली पीढ़ी में संक्रांत हो जाते हैं। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में एक रहस्य निहित है कि कौन, कैसे संस्कार लेकर आया है? कौन, कैसा जीवन जीकर आया है?

दृष्टिकोण का निर्माण करने वाला दूसरा प्रमुख कारक तत्त्व है—वातावरण। व्यक्ति जिस वातावरण में सांस लेता है—वह वातावरण कैसा है? यदि आस-पास रहने वालों का नजरिया सकारात्मक है, तो नकारात्मक विचारों को उभरने का अवसर कम मिलेगा। यदि परिपार्श्व का माहौल दूषित है, वातावरण में अहंकार और आवेश की प्रधानता है तो उन प्रकंपनों से अप्रभावित रह पाना बहुत कठिन हो पाता है।

प्राचीन आगमों की वाणी भी इस तथ्य की साक्षी है—'मिउं पि चण्डं पकरेंति सीसा'—शिष्यों की प्रकृति उग्र है तो गुरु का कोमल मन भी प्रभावित हो जाता है। निरंतर उच्छृंखल शिष्यों के साथ रहने वाले मृदु-स्वभावी गुरु का मार्दव धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। अतः विकास का एक महत्त्वपूर्ण मानदंड है—कौन, किस वातावरण में जीता है? कौन, किसके साथ रहता है? व्यक्ति की सोच को सुदृढ़ जमीन वातावरण प्रदान करता है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं—'मा खुड्डेहिं सह संसग्गिं'—तुम क्षुद्र व्यक्तियों के संपर्क से सदा बचकर रहो।

क्यों बनता है दृष्टिकोण नकारात्मक?

नकारात्मक सोच अनेक समस्याओं के अंकुरण के लिए उर्वर भूमि है। नकारात्मक दृष्टि वाले लोग अकारण अवसाद में डूबे रहते हैं। वे भविष्य को संवारने के बजाय अतीत को ही ज्यादा कोसते हैं। दृष्टिकोण नकारात्मक क्यों बनता है? यह एक चुनौतीभरा प्रश्न है। इस संदर्भ में चिंतन करने पर हमारा ध्यान दो शब्दों पर अटक जाता है—परिस्थिति और मनःस्थिति।

मनुष्य की विकास-यात्रा अनेक पड़ावों और परिस्थितियों से गुजरती हुई आगे बढ़ती है। कभी-कभी परिस्थितियों में ऐसा मोड़ आता है कि व्यक्ति नकारात्मकता से घिर जाता है। कुछ व्यक्ति जी-तोड़ परिश्रम करते हैं। वे पसीने को पानी की तरह बहाकर भी न अपना पेट भर पाते हैं और न परिवार का। कुछ लोग बिना मेहनत के आराम का जीवन जीते हैं। विलासिता मानो उनकी अनुगामिनी बन जाती है। यही विषमता व्यक्ति के मन में प्रतिक्रिया पैदा करती है और कई बार व्यक्ति गलत मार्ग पर पैर बढ़ाने को मजबूर हो जाता है। एक बालक प्रतिभासंपन्न होने पर भी पढ़ नहीं पाता। संसाधनों की कमी उसकी प्रतिभा को असमय में ही कुंठित बना देती है। विकास की बुलंदियों को छूने का उसका सपना टूट जाता है और उसी के साथ कभी-कभी शुरू हो जाता है आक्रोश, ईर्ष्या, हिंसा और प्रतिशोध का दौर।

एक सुशिक्षित, योग्यताप्राप्त युवक रोजगार की तलाश में निकलता है। वह कितने ही मनसूबे बांध लेता है, लेकिन उसे हर जगह निराशा और असफलता मिलती है। तब अपने पुरुषार्थ को वह भाग्य से बहुत दूर खड़ा पाता है। ऐसी स्थिति में उसके मस्तिष्क में नकारात्मक भावों का तूफान खड़ा हो सकता है। वे नकारात्मक भाव ही कभी-कभी अपराध की दुनिया का प्रवेशद्वार बन जाते हैं। आज उग्रवाद और नक्सलवादी संगठन तेजी से पांव पसार रहे हैं। कहा जाता है—भारत के नौ राज्य इन नक्सलवादी संगठनों की दहशत में हैं। उन क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया तो पता चला कि उनकी लड़ाई वस्तुतः हक और अधिकार की लड़ाई है। भूख की विवशता ने उनको हथियार उठाने को मजबूर कर दिया। सामाजिक और आर्थिक संदर्भों में अपना हक मांगने वाले लोगों का प्रमुख और पहला निशाना संपन्न व सुविधा-भोगी लोग ही होते हैं। इस संघर्ष में कई बार निर्दोष भी चपेट में आ जाते हैं। इन हालातों से बचने के लिए आवश्यक है कि उन बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित किया जाए कि जिससे नकारात्मक विचारों को उभरने का मौका ही न मिले।

नकारात्मक विचारों को पैदा करने वाली इन बाहरी परिस्थितियों के साथ कुछ उपादान व्यक्ति के भीतर भी मौजूद रहते हैं। इन उपादानों में एक है—मोह। जो व्यक्ति मोह की आंख से देखता है, उसके सामने कभी प्रियता का प्रतिबिंब आता है और कभी अप्रियता का। वहां यथार्थ ओझल हो जाता है।

मोह के दो प्रत्युत्पाद

मोह के दो बड़े प्रत्युत्पाद हैं—राग और द्वेष। कर्मशास्त्रीय भाषा में व्यक्ति को बंधन की ओर ले जाने वाले ये ही दोनों हैं। शास्त्रकारों ने यहां तक लिखा है—

न वि तं कुणइ अमित्तो सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो।
जं दो वि अनिग्गहिया करंति रागो य दोसो य।।

एक समर्थ और बलवान शत्रु भी वह अहित व अनिष्ट नहीं कर सकता जो अहित अनियंत्रित राग और द्वेष कर देते हैं। जब तक राग-द्वेष की प्रबलता है, नकारात्मक भावों के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। इसीलिए हमारे ऋषियों, आचार्यों ने मोह को शांत करने का उपदेश दिया। धर्म और अध्यात्म की साधना का मुख्य उद्देश्य भी यही है। मोह जैसे-जैसे शांत होता है, वीतरागता स्वतः प्रकट होने लगती है।

सकारात्मक सोच और स्वास्थ्य

'स्वास्थ्य' पहला सुख माना गया है। स्वस्थता के अभाव में जीने का अर्थ भी संकुचित हो जाता है। अस्वस्थ व्यक्ति को न खाने-पीने की स्वतंत्रता रहती है, न घूमने की। न चिंतन की स्वतंत्रता रहती है और न कार्य की। अस्वस्थ व्यक्ति का हर कार्य डॉक्टरों की सलाह और निर्देशों का मोहताज हो जाता है। आज अस्वस्थों का परिवार बड़ा होता जा रहा है। ऐसी भयावह बीमारियां अस्तित्व में आ गईं कि जिनके नाम से ही मनुष्य कांप उठता है। प्रश्न है— अस्वास्थ्य का हेतु क्या है? एक हेतु है—खान-पान एवं रहन-सहन के तौर-तरीकों में अनियमितता, अनियंत्रण और आमूलचूल बदलाव। दूसरा हेतु है—प्राकृतिक प्रदूषण। तीसरा और सबसे बड़ा हेतु है—नकारात्मक भाव।

जब-जब मन में नकारात्मक भाव पैदा होते हैं, शरीर का समूचा तंत्र गड़बड़ा जाता है। हृदय, लीवर, फेफड़ों पर गहरा असर होता है। रक्त भी जहरीला बन जाता है। जो नकारात्मक भावों में जीता है उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता क्षीण होने लग जाती है। इसीलिए चिकित्सा-जगत् में आज उन प्रयोगों को मान्यता मिल रही है जो भावों को दूषित होने से बचाएं। भावों की पवित्रता और मन की प्रसन्नता स्वास्थ्य की अनिवार्य शर्त है।

विधायक सोच वाला व्यक्ति स्वस्थ और तरोताजा रहता है और अपने निकट आने वालों को भी पुलकन और ताजगी से भर देता है। इसीलिए कहा गया—सुंदर वह नहीं जिसका चेहरा सुंदर है। सुंदर वह है जिसका मन-मस्तिष्क सुंदर है। जिसके विचार और आभामंडल सुंदर हैं। जिसकी भावनाएं सुंदर हैं।

सकारात्मक सोच और सफलता

सफलता के शीर्ष तक पहुंचने का सपना बहुत लोग देखते हैं। उस सपने को सच वे ही करते हैं, जिनकी सोच सम्यक् और सृजनात्मक होती है। आज सकारात्मक सोच शिक्षा की एक शाखा बननी चाहिए। बच्चों को प्रारंभ से ही सकारात्मक रूप से सोचने की कला का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

आज बड़ी-बड़ी औद्योगिक-व्यावसायिक कंपनियों में भी नियुक्ति से पूर्व व्यक्ति के नजरिए की परख की जाती है। वे कंपनियां बहुत तेजी से आगे बढ़ती हैं—जिनमें कार्यरत लोगों की सोच सकारात्मक होती है।

सम्यक् दृष्टि : सम्यक् आचरण

आज एक स्वर तीव्रता से उठता है कि भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। चरित्र ह्रासोन्मुख होता जा रहा है। आगम का एक वाक्य यहां विचार करने योग्य है—'नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा'—चारित्रिक उन्नयन के लिए आवश्यक है—सम्यक् ज्ञान। सम्यक् ज्ञान भी तब होता है जब दृष्टिकोण सम्यक् हो।

यदि बुनियाद ही कमजोर है तो भवन टिकेगा किस पर? इसी तरह दृष्टिकोण गलत है तो न ज्ञान सही होगा और न आचरण। दृष्टिकोण सही है तो आचार और व्यवहार की दिशा अपने-आप बदल जाएगी। जिसका दर्शन सम्यक् है, वह कहीं स्खलित हो भी गया तो पुनः संभल जाएगा। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या है तो ढलान में बहते जलप्रवाह की तरह उसके स्खलन को रोक पाना मुश्किल है। अतः हम आचार के प्रासाद को ऊंचा उठाने से पूर्व नींव को मजबूत बनाएं। वह नींव है—सम्यक् दृष्टिकोण। सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति की हर क्रिया फलवान होती है। वह एक सार्थक निष्पत्ति लिए होती है।

कैसे हो सम्यक् दृष्टिकोण का विकास?

अध्यात्म के शिखर तक पहुंचने का पहला और प्रमुख सोपान है—सम्यक् दृष्टि। कुछ लोगों को वह निसर्ग से प्राप्त होती है। कुछ अभ्यास के द्वारा इसका विकास करते हैं।

अच्छे साहित्य का अध्ययन दृष्टिकोण को उन्नत बनाने का एक सशक्त उपाय हो सकता है। जो उत्तम व जीवनबोधी साहित्य पढ़ता है, जीवन को उन्नत बनाने वाले दृश्य देखता है और अच्छे लोगों के संपर्क में रहता है—उसका दृष्टिकोण उदात्त बनता है। उसके चिंतन में सहज गंभीरता आती है। उसके निर्णय यथार्थपरक होते हैं। चिंतन स्वस्थ है, निर्णय मूलस्पर्शी है तो उसके व्यवहार में स्वतः सौष्ठव आ जाता है।

प्रशस्त दृष्टिकोण के विकास का एक उपाय है—निर्विचारता की साधना। मस्तिष्क में विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। विचार के साथ-साथ निर्विचारता की यात्रा भी चलती रहे। निर्विचारता से उद्‌भूत होने वाला हर विचार एक निर्मल आभा लिए होता है।

दृष्टिकोण को प्रशस्त करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण उपक्रम है—कषाय का उपशमन। आवेश में व्यक्ति की सोच उच्छृंखल बन जाती है, पर आवेश शांत होता है तो बड़ी-से-बड़ी समस्या सुलझते देर नहीं लगती। क्रोध आदि कषायों के उपशमन का एक सुंदर प्रयोग है—प्रतिपक्ष-भावना की अनुप्रेक्षा। उदाहरण के तौर पर 'मेरा क्रोध शांत हो रहा है, क्षमा का भाव परिपुष्ट बन रहा है।' दीर्घश्वास के साथ लंबे समय तक प्रतिदिन स्वतः सुझाव और संकल्प का प्रयोग किया जाए तो चेतना का रूपांतरण हो सकता है। अपसंस्कारों के रेचन और अच्छे संस्कारों के निर्माण की यह प्रक्रिया अब विज्ञानसम्मत हो चुकी है।

कहा गया है—अंधकार को हजार बार कोसने की बजाय एक मोमबत्ती जलाओ। विधायक सोच वाला व्यक्ति अंधेरे को पछाड़ने में अपनी शक्ति नहीं खपाता, वह वातावरण को प्रकाशमय बनाता है। सम्यक्‌दर्शन का प्रकाश जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। अपेक्षा है—सफलता की दिशा में हमारे चरण अनवरत आगे बढ़ते रहें। ❖

महासभा का नब्बेवां वार्षिक सम्मेलन संपन्न पृष्ठ 19 का शेष

कोषाध्यक्ष श्री प्रकाश बैद ने महासभा का हिसाब-किताब सदन के पटल पर रखा। सदस्यों ने इस पर अपनी जिज्ञासाएं प्रकट कीं और उन सबका समाहार भी कोषाध्यक्षजी ने किया। इसके साथ ही आय-व्यय का लेखा स्वीकार कर लिया गया।

प्रधान न्यासी श्री रणजीतसिंह कोठारी ने भी अपने विचार प्रकट किए और श्री सुरेंद्र चौरड़िया के नेतृत्व की सराहना की।

इस मौके पर जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, हैदराबाद और बंगलोर को श्रेष्ठ सभा के रूप में पुरस्कृत-सम्मानित भी किया गया।

इसी अवसर पर अलग-अलग स्तरों पर उल्लेखनीय योगदान के लिए महासभा ने विशिष्टजनों को सम्मानित भी किया।

इससे पूर्व 26 जनवरी, 2004 को प्रातःकाल प्रवचन के समय आचार्यप्रवर श्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी और साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के सान्निध्य में संबोधन-अलंकरण समारोह संपन्न हुआ। आचार्यप्रवर द्वारा विगत वर्ष में जीवनगत श्रेष्ठताओं का मूल्यांकन करते हुए जिन-जिन श्रावक-श्राविकाओं को विशेष संबोधन से संबोधित किया गया—उन सभी को या उनके परिवारजनों को महासभा की ओर से अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चौरड़िया ने अलंकरण पट्टिका अर्पित की।

इसी अवसर पर समाजभूषण अलंकरण श्री चंदनमल बैद को अर्पित किया गया। जबकि आगामी वर्ष के लिए यह अलंकरण श्री सुरेश दादा जैन (जलगांव) को अर्पित करने की घोषणा की गई।

इसी कड़ी में 25 जनवरी, 2004 को सायंकाल मिलन समारोह भी आयोजित हुआ। इस समारोह में महासभा की ओर से संबोधन अलंकरण से विभूषित सभी उपस्थित जनों को विशेष 'किट' भेंट किया गया।

इस प्रकार महासभा का नब्बेवां अधिवेशन बड़े उल्लास और उत्साह के माहौल में संपन्न हुआ।

महासभा के नवनिर्वाचित अध्यक्ष और प्रधान न्यासी को उपस्थित अनेक लोगों ने साधुवाद प्रेषित किया।

❖

(जलगांव में संपन्न हुए 140वें मर्यादा महोत्सव की विस्तृत रिपोर्ट पढ़ें—अगले अंक में)

एक ओर सभ्यता का विकास, दूसरी ओर हिंसा का वीभत्स रूप, दर्दनाक घटनाएं, हृदयद्रावक सूचनाएं—हिंसा की पराकाष्ठा की द्योतक हैं। हिंसा एक नशा है। नशा भले शराब का हो या हेरोइन का या साम्राज्य-लिप्सा का हो या जातीय विद्वेष का—सबका पैमाना एक ही है। नशे में उन्मत्त व्यक्ति मानवता पर क्रूरता से बेरहम प्रहार कर रहा है। इतिहास के पन्ने रक्त की स्याही से लिखे गए हैं, जिनमें छिपी हैं निर्ममता, क्रूरता और दानवता की दास्तानें। आज तक न जाने कितने युद्ध लड़े गए हैं। पल्ले पड़ा उनकी झोली में—तनाव, पश्चात्ताप, मानसिक परिताप।

❑❑

हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर

❑ साध्वी नगीना ❑

अहिंसा क्षेमंकर है। शुभ है। शांति है। प्राणिमात्र का मंगल है। यह चिर सत्य कवि के शब्दों का परिधान लेकर गहरे तथ्य को उजागर करता है—

हिंसा से शांत नहीं होता हिंसानल
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर

हिंसा की उठती भीषण ज्वालाओं को हिंसा का अभिसिंचन देकर शांत नहीं किया जा सकता। इसके लिए अपेक्षा है अहिंसा के 'फायर ब्रिगेड' की। हिंसा से हिंसा को शांत करने का चिंतन तो खून से सने वस्त्र को खून से ही शुद्ध करने जैसा उपहासास्पद है।

हिंसा समाधान नहीं, स्वयं ही एक समस्या है। उसके साथ जुड़ा है—भय। जहां भय है वहां प्रतिक्रिया है। भय में हिंसा अनिवार्य है। शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा में काल्पनिक या यथार्थ भय का ही हाथ है। हिंसा की जनक-शक्ति अविरति है। अविरति आकांक्षा की मूल है। आकांक्षाओं के विस्तार ने हिंसा को बढ़ावा दिया है। हिंसा दुख है। मार है। नरक है। ग्रंथि है।

जीवैषणा प्राणिमात्र में है। अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए सभी प्रयत्नशील हैं। दुख और मृत्यु किसी को भी प्रिय नहीं। अहिंसात्मक चैतन्य की अनुभूति स्थूल प्राणियों तक ही सीमित नहीं रहती, सूक्ष्म जीवों तक भी पहुंचती है। पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन के लिए अहिंसा का आचरण श्रेष्ठतम उपाय है।

इस संसार में व्यक्ति अकेला ही नहीं, केवल उसका ही अस्तित्व नहीं—जीने का अधिकार सबको है। ऐसी स्थिति में किसी के प्राणों का व्यपरोपण करना, किसी के अधिकारों को कुचलना उसके प्रति अन्याय है।

प्रश्न होता है, आदमी हिंसा क्यों करता है? हिंसा की पृष्ठभूमि में कौन-से प्रेरक तत्त्व हैं, जो हिंसा को उत्तेजना दे रहे हैं? प्रश्न का समाधान खोजने पर कुछ तत्त्व सामने स्पष्ट होते हैं, जैसे साम्राज्य-लिप्सा, उन्माद, तनाव, आवेश, अकर्मण्यता, अविवेकता आदि। हिंसा के बीज मनुष्य के भीतर हैं। क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, आसक्ति—न जाने कितने-कितने हिंसा के उत्प्रेरक तत्त्व मानसिक धरातल पर छुपे हुए हैं। यह मानसिक हिंसा है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है—वाणी और शरीर। युद्ध, आतंक, सांप्रदायिक उन्माद इसी के फलित हैं।

एक ओर सभ्यता का विकास, दूसरी ओर हिंसा का वीभत्स रूप, दर्दनाक घटनाएं, हृदयद्रावक सूचनाएं—हिंसा की पराकाष्ठा की द्योतक हैं। हिंसा एक नशा है। नशा भले शराब का हो या हेरोइन का या साम्राज्य-लिप्सा का हो या जातीय विद्वेष का—सबका पैमाना एक ही है। नशे में उन्मत्त व्यक्ति मानवता पर क्रूरता से बेरहम प्रहार कर रहा है।

इतिहास के पन्ने रक्त की स्याही से लिखे गए हैं, जिनमें छिपी है निर्ममता, क्रूरता और दानवता की दास्तानें। आज तक न जाने कितने युद्ध लड़े गए हैं। पल्ले पड़ा उनकी झोली में—तनाव, पश्चात्ताप, मानसिक परिताप।

युद्ध में देशों ने बहुत-कुछ खोया है। हजारों वर्षों के बाद भी इस दुष्प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लग पाया। कब धुलेगा यह मानव जाति के मस्तिष्क पर लगा कलंक का टीका? कब टूटेगा संकीर्णता एवं स्वार्थ का घेरा? कब बंद होगी जाति, भाषा, प्रांत और संप्रदाय के नाम पर खेली जा रही खून की होली?

यह धरती महापुरुषों की धरती है। महावीर ने अहिंसा की आंख, बुद्ध ने करुणा की काया, ईसा ने प्रेम की पांख, मुहम्मद ने भाईचारे की भुजाएं दीं। उन आदर्शों की खुले-आम धज्जियां उड़ाई जा रही हैं। हिंसा का विकराल स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में समाज के सामने उपस्थित हो रहा है।

विगत वर्षों में इस धरती पर हिंसा का जो तांडव नृत्य खेला गया—वह शर्मनाक है। कहां गयी राम की मर्यादा, कृष्ण का कर्मयोग, मुहम्मद और ईसा के संदेश? आज की उच्छृंखल समाज-व्यवस्था और संस्कारों ने मानव को मानवता से दूर कर दिया है। अध्यात्म की धरती पर हिंसा का प्रशिक्षण—यह कैसी दशा है? अमेरिका का औसत बच्चा प्राथमिक शिक्षा पूरी करने से पूर्व ही दूरदर्शन पर लगभग आठ हजार हत्याएं तथा हिंसा के लाखों दृश्य देख चुका होता है। इससे बालमन पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

क्या यही है मानवीय संस्कृति? यही है 'अहिंसा परमोधर्मः' का नारा? आज अहिंसावादी लोगों के संगठन की आवश्यकता है। अहिंसा के विकास हेतु केवल अहिंसा की चर्चा और भाषण की नहीं, इसके लिए प्रशिक्षण की अनिवार्यता है। प्रशिक्षण के बिंदु हों—आत्मौपम्य भावना, मानवीय एकता, मैत्री और करुणा, अनावश्यक हिंसा का वर्जन, संयम का अभ्यास।

अहिंसा भारतीय मनीषियों की अनुभूतियों का अर्क है। भय एवं आतंक से गहराए क्षितिज पर सूर्योदय है। शक्ति का गठबंधन केवल हिंसा में ही नहीं, अहिंसा में भी होता है। अहिंसा का अस्त्र आणविक अस्त्र से शक्तिशाली है, किंतु उसका प्रयोग शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकता है। एक तरफ निःशस्त्रीकरण की चर्चा, इधर आणविक अस्त्रों की तैयारी। इस दोहरी नीति से विश्व में शांति संभव नहीं। विश्व का संरक्षण अहिंसा की गोद में है। शांति के फूल हिंसा की धरती पर नहीं खिलते। अहिंसा की पार्श्वभूमि में सब बदल जाता है। स्थिति बदलने पर ही अहिंसा की शक्ति विकास पाती है। अपेक्षा है—अहिंसा की चेतना जगाएं। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

पर इस वक्त यों लेटे हुए और उनके चेहरे की नई झुर्रियों को देखते हुए उसे लगा कि बचपन में अपना दोष नजर नहीं आता, केवल दूसरों का ही आता है। इस खयाल के आने के साथ ही उसने सोचा कि जो लोग कभी भी अपने को दोषी नहीं मानते, वे बच्चे ही रह जाते हैं। इस तरह की किसी भी बात से सूक्तियां गढ़ने का उसे शौक था और इन सूक्तियों को वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से मिली नितांत निजी सूक्तियां मानता था।

❑❑

कहानी

छाया

❑ *अशोक वैकसरिया* ❑

डेढ़ साल बाद वह घर लौटा। कई बार 'घर आओ' वाली चिट्ठियां टालने के बाद उसे लगा कि अब ऐसी हालत हो गई है कि उसे जाना चाहिए। ऐसे में केवल यह फैसला करना था कि कौन से दिन जाए—आज, कल या परसों! दफ्तर में छुट्टी के लिए उसने पहले से ही कह दिया था और मैनेजर ने उससे कहा था कि वह जिस दिन चाहे, चला जाए। पर वह छुट्टी की मंजूरी के बाद भी घर जाना टालना चाहता था। किसी नौकरी के बारे में एप्लाई करने या न करने का अनिश्चय अंतिम तारीख आने के एक-दो दिन पहले किसी-न-किसी निश्चय के रूप में बदलता है और अगर तब एप्लाई करना हुआ तो जो हड़बड़ी होती है वैसी ही हड़बड़ी में उसने अपने शहर के लिए टिकट खरीदा। जाने की अन्यमनस्कताभरी गंभीरता की वजह से उसने घर खबर भी नहीं की कि वह आ रहा है। पर जब वह स्टेशन पर उतरा तो उसे इस बात की उम्मीद थी कि शायद उसके आने का पता चल गया हो और घर से कोई उसे लेने आया हो। जब लोगों के सामान प्लेटफार्म पर उतारे जाने लगे और घर का कोई आदमी नहीं दिखा तो उसे अपनी खामखयाली मालूम हुई और अपने पर थोड़ा तरस-सा आया।

उसके पास सामान कुछ नहीं था, एक छोटा-सा बैग था। उसने थोड़े रोमांटिक भाव और बाहरी तौर पर लापरवाही के साथ अपना बैग खींचा, पीठ पर—चित्रों में देखे पर्वतारोहियों की तरह—उसे लाद लिया और प्लेटफार्म पर उतर पड़ा। अपने कम सामान के कारण उसे 'ट्रैवेलिंग लाइट' फिकरा याद आया, उसने सोचा कि वह आम-हिंदुस्तानियों की तरह ढेर-सा सामान लिये सफर नहीं करता। यह खयाल उसे काफी खुश करने वाला हो सकता था पर उसे याद था कि अपनी बहनों के लिए शॉप-विंडो में उसने कितनी चीजें देखी थीं और सोचा था कि पैसे जमा कर घर जाते वक्त बहुत-सा सामान खरीद कर ले जाएगा। पर, उसके पास पैसे नहीं रह गए थे कि कुछ खरीदता और दफ्तर में उसे उधार पैसे मिलने मुश्किल थे क्योंकि वह अपने कमजोर मन के कारण पचासों बार इस नौकरी से उकता जाने की बात कह चुका था और इस बार उसने फैलाया था कि शायद वह घर से नहीं लौटे। अगर वह अपने मन-मुताबिक खरीद कर सकता तो ट्रैवेलिंग लाइट फिकरे का क्या होता? उसके दफ्तर में एक साल पहले एक नया लड़का आया था। इस लड़के के चालू तौर-तरीकों के कारण उसने सोचा था कि यह भी दफ्तर के दूसरे हरामियों की तरह है पर जब यह लड़का एक साल काम करने के बाद छुट्टियों पर घर गया और उसने साल-भर में जमा किए गए पैसों से अपनी बहनों के लिए ढेर-सी चीजें खरीदीं तो उसने इस लड़के के बारे में राय बदल दी कि वह चालू जरूर है पर भीतर से बुरा नहीं है।

अपने शहर में, जब उसके बारे में किसी को खबर नहीं थी, घूमना अजीब तरह का घूमना था। उसकी ट्रेन सुबह छ बजे पहुंची थी। उसने सोचा कि दो घंटे इधर-उधर घूम करके वह घर पहुंचेगा। बचपन में रोमांटिक उपन्यास पढ़ कर उसके मन में मर जाने का बहुत खयाल आता, कभी-कभी खयालों में वह मर भी जाता तो उसे अपने घर के लोगों की चिंता होने लगती और वह चाहता कि ईश्वर उसे ऐसी मौत दे कि वह यह देख सके कि उसके घरवाले किस तरह हैं। घूमते-घूमते उसे बचपन की यह बात याद आई और लगा कि अनजाने में उसे अपनी कामना की-सी स्थिति मिल गई है। सुबह-सुबह बड़ी दूकानें बंद थीं और छोटी दूकानें खुलने लगी थीं पर उसे कुछ भी पूरी तरह एहसास नहीं हो पा रहा था। दूकानों को काफी जान-बूझ कर देखने पर उसे उनके साथ अपना परिचय याद आता था, नहीं तो वे किसी और शहर की दूकानों जैसी ही दूकानें थीं। एक छोटे-से रेस्तरां में चाय पी कर वह घर चल दिया। अपने घर की सड़क पर उसे कोई नहीं मिला। मिल जाता तो घर जा कर, बेल बजा कर प्रतीक्षा करने की दहशत उठानी नहीं पड़ती। पर जब वह घर पहुंचा तो दरवाजा खुला हुआ था, वह सहमा-सा भीतर दाखिल हुआ। मां बरामदे में बैठी तरकारी काट रही थीं। डेढ़ साल पहले जब वह गया तब वह बीमार रहने लगी थीं पर रोज-रोज देखने के कारण बीमारी की गंभीरता का उसे एहसास नहीं हो पाता था। पर डेढ़ साल घर से अलग रहने के दौरान पिता के पत्रों से उसे लगता था कि मां बिस्तर पर पड़ी रहती होंगी। पिता पत्रों में हमेशा लिखते कि तुम्हारी मां का क्या है, एक-दो साल कट जाए तो समझो बहुत अच्छी निभ गई। ये पत्र पढ़ने पर उसे चिंता होने लगती कि मां के बारे में कभी भी बुरी खबर आ सकती है। किंतु साथ ही पत्रों से उसे यह भी लगता कि पिता के ये वाक्य जितने उलाहने में लिखे गए हैं, उतनी सचाई के साथ नहीं। मां को पहले की तरह ही तरकारी काटते देख वह एकबारगी पूरी तरह से चिंता से उबर गया और उसे पिता की बातें अतिरंजित लगीं।

नहाने-खाने के बाद वह घंटे-भर घर पर रहा। घर के सब लोगों को एक साथ देख कर उसे लगा कि उसके आने से घर फिर भरा-पूरा हो गया है। उसके कई दोस्त बाहर गए थे। उनके घर जाने पर उसे हरदम लगता था कि कहीं कुछ बाकी है—दाल पकी हुई है पर छौंकी नहीं गई है, खाने बैठ गए हैं और दाल छौंकी जाने का इंतजार कर रहे हैं। अपनी दाल की यह बात याद आने पर उसने दाल कुछ ज्यादा ही खाई। बचपन में वह दाल बहुत कम खाता था। उसको यह वहम था कि ज्यादा दाल गंवार लोग खाते हैं। दाल ज्यादा खाते वक्त उसे यह भी लगा कि वह अब इतना बड़ा हो गया है कि लोग क्या कहते-सुनते हैं, इसकी परवाह किए बिना अपने मन की करने की परिपक्वता उसमें आ गई है। खाना खाने के बाद गद्दे पर लेटे-लेटे सब बातें कर रहे थे। थोड़ी देर में पिता बाहर चले गए। मां को बातों के बीच ही नींद आ गई, वह और उसकी बहनें बातें करते रहे। मां को पल-भर में नींद आ जाती थी और इसीलिए वह और उसकी बहनें भी मां को गंवार मानती थीं। वह मां की तबीयत के बारे में पूछने लगा तो बड़ी बहन ने बताया कि तबीयत बिगड़ जाती है तो बताती नहीं कि डाक्टर बुलाएंगे और पैसे लगेंगे। रात टूटी-टूटी नींद आती है और बीच में बड़बड़ाती रहती हैं। गद्दे पर मां को सोई देख कर उसे कई बातें याद आईं, जैसे मां नहीं रही हों और वह बहुत दिनों बाद मां के बारे में सोच रहा हो। उसकी बहनों ने, मां जैसी भी थीं, उन्हें वैसे ही स्वीकार कर लिया था। मां के बारे में कोई भी बात होती तो वे कहतीं, तुम मां का स्वभाव तो जानते ही हो। स्वभाव जानने के बाद शिकायत की कोई गुंजाइश नहीं थी।

मां के स्वभाव में कहीं किसी चीज को प्रकट करने की क्षमता नहीं थी। कोई घर में बहुत दिनों बाद आए तो भी बोल कर वह अपनी खुशी जाहिर नहीं कर सकती थीं। बाहर के लोग जब घर आते तो मां का आतिथ्य में कुछ भी न कह पाना उसको बहुत अखरता। बचपन में सामाजिकता का जितना एहसास रहता है शायद उतना कभी नहीं रहता। मां किसी से यह भी नहीं कह पातीं—आइए, बैठिए, चाय पिएंगे। ऐसे में उसे लगता कि घर से जाने पर बाहर के लोग क्या कहेंगे। जैसे ही बाहर के आदमी चले जाते, वह मां पर बरस पड़ता। खाना तैयार न होने के बावजूद वह जल्दी-जल्दी कर उसे खाने पर बैठा देतीं—खाना हाजिर न होता तो उसका गुस्सा बढ़ जाता। सब काम जल्दी-जल्दी हो और घर में हर वक्त पूरी सफाई रहे, मां के ये दो महारोग थे। मेहतर के बाथरूम साफ करने के बाद बाथरूम में जब वह जाने लगता तो वह कहतीं कि पहले क्यों नहीं गए, जैसे ही बाथरूम साफ हुआ, उसे गंदा कर दोगे। नौकरों को ले कर हमेशा लड़ाई होती और मां को वह ओछा समझता। पिता से वह इस बारे में मां की कई बार शिकायत कर चुका था पर पिता शायद बचपन के अतिरंजित आदर्शवाद से वाकिफ थे इसलिए मां को कुछ नहीं कहते। नौकरों को ले कर उसको एक बात बहुत याद थी। यह बात उसे भूल गई थी

पर कोई उपन्यास पढ़ते समय अचानक उसे यह बात याद आई और तब से यह बात वह कई बार मन में दुहरा चुका था क्योंकि यह बात उसके मुताबिक उसकी अच्छाई को जाहिर करती थी। मां के साथ अपने संदर्भ में उसने इस बात को पीट-पीट कर एक प्रतीक-सा बना लिया था, पर धीरे-धीरे अपने दुहराए जाने के कारण यह प्रतीक अब उतना ही खोखला लगने लगा था जितने कि दुनिया के दूसरे बहुत दुहराए गए प्रतीक। विभाजन के दिनों में उसके यहां पूर्वी बंगाल के किसी कांग्रेसी कार्यकर्ता ने एक शरणार्थी औरत को नौकरानी रखवा दिया था। इस नौकरानी को खाना बनाने का काम दिया गया। वह रोटी बनाना नहीं जानती थी, पूर्वी बंगाल में रोटी बनाने का क्या काम? वह फुलके या तो जला देती या कच्चे छोड़ देती। मां इस पर डांटतीं और नौकरानी चुपके-चुपके रोती रहती। स्कूल जाते वक्त वह खाना खाने लगता तो मां थाली में फुलके देखती रहतीं कि वे जले हुए या कच्चे तो नहीं हैं। फुलका कच्चा हो या जला, मां डांटेंगी जान कर वह कुछ नहीं कहता। पर मां कच्चा या जला फुलका देख कर नौकरानी को डांटने लगतीं। वह मां को रोकने की कोशिश करता पर मां रुकती नहीं। स्कूल का वक्त होने लगता और उसे तुरंत चलने की होती। स्कूल से लौटते वक्त उसे हमेशा यह डर रहता कि उसके जाने के बाद मां ने नौकरानी को बहुत डांटा होगा और वह चली गई होगी। स्कूल से लौटते वक्त वह सीधे सहन में रखी नौकरानी की गठरी और पेटी को देखता कि कहीं वह चली तो नहीं गई है। कई बार कहने पर भी जब मां ने नौकरानी को झिड़कना बंद नहीं किया और उसे लगने लगा कि नौकरानी के साथ बहुत अन्याय हो रहा है तो वह रोज स्कूल जाते वक्त मां की पूजा की तिपाई पर जा कर माथा टेकता और प्रार्थना करता, 'हे भगवान! मां को सद्‌बुद्धि दो और नौकरानी को जल्द फुलके बनाना सिखाओ।' प्रार्थना करते वक्त की अपनी विवशता और गुस्सा उसे आज भी याद था और मां के प्रति जब वह बहुत प्रेमल नहीं हो पाता था तब इस बात पर वह कारण के रूप में पूरे जोर से लकीर खींचता।

पर इस वक्त यों लेटे हुए और उनके चेहरे की नई झुर्रियों को देखते हुए उसे लगा कि बचपन में अपना दोष नजर नहीं आता, केवल दूसरों का ही आता है। इस खयाल के आने के साथ ही उसने सोचा कि जो लोग कभी भी अपने को दोषी नहीं मानते, वे बच्चे ही रह जाते हैं। इस तरह की किसी भी बात से सूक्तियां गढ़ने का उसे शौक था और इन सूक्तियों को वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से मिली नितांत निजी सूक्तियां मानता था।

उसकी बड़ी बहन ने अचानक कहा, 'मां और बाबूजी अब सत्तर वर्ष के होने को आए। इस उम्र में जब कोई मर जाता है तो हम कहते हैं कि ठीक ही तो है, इसी उमर में लोग मरते हैं, पर मां और बाबूजी के बारे में इस तरह सोचने में डर लगता है।' बहन की इस बात से वह कुछ अचकचा गया और कुछ उत्तर न दे पाने के कारण तकिए से खेलता रहा। मां की सोने के साथ नाक बज रही थी और भाई-बहनों का उन्हें (मां) गंवार मानने का यह भी एक कारण था।

मां का पीहर बहुत गरीब था और वह मां के पीहर वालों को गंवार मानता था। बचपन में उसके मामा जब मां से मिलने आते तो वह मां से कहता कि तुम्हारे भाई मिलने आए हैं, मामा आए हैं नहीं कहता। आज यह बात याद कर उसे शर्म-सी आई पर यह बात उसे तब याद आई थी जब कि उसके खुद के भांजे बड़े ओहदों पर जाने लगे और वह छोटा रह गया। इस वक्त उसे लगा कि अगर मां का पीहर अमीर हुआ होता तो वह कभी मां को गंवार नहीं मानता। मां के पीहर के गरीब होने के कारण उसका अपने मामा-मामियों से संबंध नहीं के बराबर था। अपने को एक पल असलियत में देखने पर उसे लगा कि वह दरअसल भला और अच्छा नहीं है। मुहल्ले के लड़कों की शरारतों में वह शामिल नहीं होता था। जब लड़कों को कोई शरारत सूझती, वह उन्हें शरारत करने से रोकने की कोशिश करता तो लड़के कहते यह चुप्पा बदमाश है। अकेले में चुप्पा बदमाश की बात सोच कर उसे लगा करता कि शायद वह चुप्पा बदमाश ही है क्योंकि गंदी-गंदी बातें उसके मन में आती हैं, बस उन्हें करता-भर नहीं है। ये सब बातें अचानक उसे इस तरह याद आईं कि जैसे झगड़े में कोई दूसरा आदमी उसे उसके खिलाफ अब तक छिपाई गई बातें अचानक उसको निरस्त्र करने के लिए कह दे। अपने और मां के पक्ष में विचार करता हुआ वह थोड़ी देर गद्दे पर पसरा रहा। जब शाम होने को आई तो वह घर से निकल पड़ा और दोस्तों से मिलता रहा। दूसरे दिन जब सुबह उठा तो उसे बाजार जाना था। उसने सोचा कि वह मां के साथ बाजार चला जाएगा। मां वर्षों से रोज सुबह तरकारी खरीदने बाजार जाया करती थीं। उसने मां से कहा, 'चलो, तुम बाजार तरकारी लेने नहीं चलोगी', तो मां ने कहा वह एक साल से तरकारी लेने नहीं

जातीं, सीढ़ियां नहीं चढ़ सकतीं। घर आने के दिन ही सीढ़ियां चढ़ते उसे बीच में एक कुर्सी दिखी थी। उसे अब कुर्सी के वहां होने का कारण समझ में आया। अचानक उसे लगा कि मां के बूढ़े होने के साथ वह भी जवान नहीं रहा। बचपन की तरह किसी चीज के बारे में एकाएक दुखी और सुखी होने की उसकी क्षमता छिन गई है, ऐसा उसे महसूस हुआ। क्रिकेट कमेंटरी सुनते वक्त लंच के बाद रेडियो फिर से खोलने पर बीच में हुए खेल के स्कोर को सुनने पर हिंदुस्तानी टीम का कोई विकेट गिरने की खबर सुनने पर सन्नाटे-सा छा जाने वाला अपना दुख उसे याद आया और अभी इस दुख को अनुभव न कर पाने पर उसको आंखों में कोई चीज पड़ जाने पर उसे न निकाल पाने जैसी अस्थिरता का बोध हुआ।

तीन-चार दिनों में उसको मां की बिगड़ती हालत का पता लग गया। रात को सोते वक्त उनकी बड़बड़ाहट सुन पड़ती जिसे वह जागते हुए सुनता रहता। घर में एक महीने की छुट्टियों में रहते वक्त वह बहुत सोना नहीं चाहता था, रात-भर अपने बिस्तर पर पड़े-पड़े वह घने एहसास के साथ अपने और अपने संबंधों के बारे में सोचना चाहता था। मां थोड़ी देर बड़बड़ाती रहतीं और फिर मंद पड़ जातीं। वह भी खींच-खींच कर बढ़ाए गए अपने खयालों को और बढ़ा नहीं पाता और सो पड़ता। ऐसे जागरण में उसे मां की बहुत-सी पुरानी बातें याद आती। उसके पिता के एक दोस्त के लड़के की शादी हुई तो एक दिन वह लड़का अपनी बहू को ले कर घर आया। बहू बहुत सुंदर थी। मां ने उसे अपने पास बुलाया और बहुत प्यार से बोलीं, 'तुम बहुत सुंदर हो, दो से ज्यादा बच्चे मत करना।' पिता ने यह बात मां की प्रगतिशीलता के रूप में कई लोगों से कही थी। तब यह बात बखान के रूप में उसे बुरी लगी थी पर अब अपने सोच में उसे लगा, मां अपने घोर अनपढ़पन के बावजूद बहुत-सारे आधुनिक बनने वालों से आगे है।

उसके वापस जाने के दिन पास आने लगे। जब आठ-नौ दिन रह गए तो मां की तबीयत बिगड़ गई। वह बाहर से आया है, इस एहसास की वजह से ज्यादा से ज्यादा घर पर रहता। मां का खाना-पीना बंद कर दिया गया था और बिना खाए रहना उनके लिए बहुत मुश्किल था। मां, जब उससे बड़ी बहन पेट में थीं तब पिकेटिंग करती हुई जेल गई थीं और कुछ महीनों जेल में थीं। पिता के कहने पर ही वह गई होंगी। उन्हें शायद, अंगरेज चले गए हैं इसको छोड़ कर, देश और दुनिया के बारे में कुछ भी पता नहीं था। मां के साथ जेल में रही एक बंगाली औरत ने अपने बारे में किताब लिखी थी। उसमें जेल के दिनों का जिक्र था। वह, उसका भाई और ममेरा भाई मां को कभी-कभी उस औरत की लिखी किताब से जेल के बारे में कुछ बातें अनुवाद कर सुनाते। ये बातें सुनते-सुनते मां कहतीं कि ऐसा नहीं हुआ था। गलत लिखा है। किताब लिखने वाली औरत को वह बचपन से जानता था। वह शहर के एक बहुत बड़े डाक्टर की बीवी थी पर उसने अपने पति को छोड़ दिया था। उसकी बेटी पागल थी और बेटा विलायत से मेम ब्याह कर अजीब स्थिति में रह रहा था। कभी मां की तरफ और कभी पिता की तरफ। वह और उसके भाई किताब सुनाते वक्त मजा लेने के लिए उस औरत के बारे में फैली बातों की चर्चा छेड़ देते तो मां थोड़े-से गुस्से में कहतीं, 'ये सब बातें झूठ हैं। वह शुरू से ही बेढंगी है और सिगरेट पीती है पर उसका चरित्तर (चरित्र मां कभी बोल नहीं पाईं) कभी खराब नहीं था।' मां फिर उन्हें झिड़कने के लिए कहतीं, 'उसकी जैसी बहादुरी मर्दों में भी नहीं दिखती।' मां बतातीं कि किस तरह जेल में वह औरत बाहर से चीजें मंगाती और भेजती। रात-रात जाग कर भागने के लिए इंतजाम करती। बचपन में वह औरत जब उसके यहां आती तो वह छिपे-छिपे उसके बैग में झांकता कि उसमें सिगरेट है या नहीं। एक दिन जब वह छिपे-छिपे झांक रहा था तो उस औरत ने कहा, 'सिगरेट देख रहे हो, पीनी है?' कहने में हिकारत का ऐसा भाव था कि वह गल गया। उस दिन की अपनी निर्मम उत्सुकता याद आने पर वह तय करता कि आगे से वह दूसरों के बारे में उनकी छिपाई गई चीजों के प्रति उत्सुक नहीं होगा।

मां को किताब में रस आने लगा था। उन्होंने पूछा, इस किताब को छपाने में कितने पैसे लगे होंगे। उसके ममेरे भाई ने बताया कि छ-सात सौ रुपये लगे होंगे पर कमाया दो हजार से ज्यादा होगा। मां से ममेरे भाई ने मजाक में कहा, तुम किताब लिखो तो कम में छप जाएगी। एक प्रेस वाला मेरी जान-पहचान का है, सस्ता छाप देगा। तुम्हारी किताब पर पांच-सौ रुपये खर्च होंगे और आमदनी दो हजार से कम नहीं होगी। मां ने इस सुझाव को बहुत गंभीरता से लिया, बोलीं, तुम लोगों को मैं बोल-बोल कर लिखा दूंगी। और जो आमदनी होगी वह भी तुम लोगों को दे दूंगी। बात यों ही आई-गई नहीं हुई। मां ने सुबह ही सुबह दूसरे दिन उसे किताब लिखने के लिए तलब किया। मां बीमार थीं इसलिए कर्तव्य भाव से उनकी इच्छा पूरी करने का उन लोगों ने निश्चय किया। बचपन में मां घर का हिसाब लिखने के लिए

उसे कहतीं कि अगर तुम रोज-रोज ठीक से हिसाब लिख दो तो पांच रुपये महीना दूंगी। पांच रुपये के लोभ में वह हिसाब लिखना शुरू करता पर छ-सात दिन के बाद हिसाब लिखना नहीं चलता और छ-सात दिन की उसकी मेहनत के पैसे मारे जाते।

जब मां की किताब लिखना उसने तय किया तो उसने और उसके भाइयों ने मां से किताब की रूपरेखा के बारे में सलाह-मशविरा किया। यह सलाह-मशविरा उसे वैसा ही लगा जैसा कि बचपन में मुहल्ले की टीम का दूसरी टीम से मैच होने पर लड़के किया करते थे।

मां के जेल-जीवन के बारे में अधिक-से-अधिक पंद्रह-बीस पन्ने मैटर हो सकता था; किताब कम-से-कम सवा सौ या डेढ़ सौ पन्नों की होनी चाहिए। मां ने कहा, वह अपने बचपन से शुरू करेंगी और किताब चार सौ से भी ज्यादा पन्नों की हो जाएगी। चार सौ पन्नों की किताब में खर्च ज्यादा पड़ेगा इसलिए तय हुआ कि जीवन की प्रमुख-प्रमुख घटनाओं को लिया जाएगा। पर मां ने लिखाना एकदम अपने जन्म से शुरू किया—जिस साल वह जन्मी थी उस साल अकाल पड़ा था और अकाल में लड़की पैदा होना और भी अशुभ था। मां की ये बातें लिखते-लिखते उसे कई उपन्यास याद आए और मां की कहानी उपन्यास सरीखी हो सकती है, यह महसूस कर उसे ज्यादा रस आने लगा। उसके भाई ने बीच में कहा, 'मां, तुम्हारी दादी की बकरी वाली बात जरूर लिखवाना।' मां थोड़ी देर तक क्रम से लिखवाती रहीं, फिर क्रम नहीं रह गया और उन्होंने अपनी दादी की बात छेड़ दी। मां की यह कहानी वह बचपन में और बड़े होने पर सैकड़ों बार सुन चुका था। जब भी मां बोर या उदास लगती थीं, वह इसकी याद दिलाता और मां यह कहानी ऐसे सुनातीं जैसे उन लोगों ने उसे कभी न सुना हो।

मां की दादी अपने पोते-पोतियों से जब तंग आ जातीं तो कहतीं, 'मौत आ जाए तो भला हो।' दादी पोते-पोतियों को यह बात रोज कहतीं। इस पर मां के भाई ने एक दिन जब दादी सो रही थीं, खिड़की के पास बकरी बांध दी। रात को जब बकरी ने आवाज की तो दादी की नींद उचट गयी, बोलीं—कौन? तो मां के भाई ने, जो छिपा बैठा था, आवाज बदल कर कहा, 'मौत!' दादी डर गईं। बोलीं, 'मेरे पास क्यों आई हो?' भाई बोला, 'तुम जो रोज-रोज मौत आ जाए कहती हो, इसलिए तुम्हें लेने आए हैं।' दादी इससे और भी ज्यादा डर गईं। बोलीं, 'मैं क्यों मौत चाहूंगी? नाती-पोते मेरे हैं, भाई है, सुखी-भली हूं। तुम्हें जाना ही है तो किसी खराब औरत के पास जाओ।'

दूसरे दिन भाई ने दादी से पूछा, तुम रात को क्यों बड़बड़ा रही थीं तो दादी बोलीं, 'क्या बताऊं, रात मेरे पास मौत आई थी।'

'तो तुम उसके साथ चली क्यों नहीं गई?'

'मैं क्यों जाती? मुझे क्या दुख है जो जाती?'

'पर तुम जो रोज कहती हो कि मौत आ जाए।'

'वह तो केवल कहने की बात है।'

मां यह कहानी सुनाते वक्त एकदम मगन हो जातीं और उनके बूढ़े चेहरे पर शरारत दीख पड़ती।

मां का यह भाई थोड़े दिनों बाद ही मर गया। मां कहतीं कि अगर उसका यह भाई जीवित रहता तो उसके घर की हालत कभी खराब नहीं होती। उनके चेहरे पर अपने पीहर की गरिमा-सी छा जाती। कहतीं, 'जब तक मेरा यह भाई जीवित था हमारी यह हालत थोड़े ही थी। उनके मुंह से निकली आज इस 'हमारी' की बात याद करने पर उसे लगा कि मां कभी-कभी पीहर के गरीब होने के कारण अपने तिरस्कार को समझती थीं और उनके मन में विदेश में जा कर बसने पर देश की अभिमान-भरी याद सरीखी अपने पीहर की याद थी। मां कहतीं कि उसके पीहर को गरीबी से केवल उसका यही भाई उबार सकता था और उसकी बातें, उसकी तेजी याद कर वह अपने दूसरे भाइयों के बारे में और भी ज्यादा निराश हो जातीं।

मां के भाई की बातें याद कर उसे लगा कि एक वृहत् उपन्यास के एक अजीब, भले व तेज मामा या चाचा टाइप चरित्र के रूप में मां के भाई की वृहत् संभावनाएं हैं। संभावनाएं शब्द को दुबारा सोच कर उसे बाद में काफी हंसी आई।

किताब भी हिसाब लिखे जाने की तरह बीच में बंद हो गई। बाहर से लौटने पर ही मां कहतीं, लिखो, मैं बोलती हूं पर वह अब अच्छी होने लगी थीं और किताब लिखने का धैर्य किसी में नहीं था।

उसके जाने का दिन आ गया। मां ने कहा, 'थोड़े दिन और रह जाओ', पर वह घर में और ज्यादा नहीं रहना चाहता था। एक प्रकार की सिकुड़न और आशंका-भरा डर उसे घर में लगता था। उसके जाते-जाते वह बोलीं, 'अगर

मैं मर गई तो तुम्हें मेरे मरने के बाद ही खबर हो सकेगी क्योंकि ऐसा लगता है कि बिना ज्यादा तबीयत खराब हुए ही किसी दिन मौत आ जाएगी।' उसने मां को दादी की बात कही पर संदर्भ नहीं जुड़ा, फिर भी वह जैसे उसका मन रखने को मुस्करा दीं।

स्टेशन पर उसका भाई उसे कुछ रुपये देने लगा कि मां ने दिए हैं। बचपन में पैसों को ले कर मां से रोज झगड़ा होता था। मां कहती थीं कि पैसे नहीं हैं पर उसे हमेशा लगता कि मां के पास पैसे रखे हैं पर वह दे नहीं रही है। आज भी जब किसी से उधार पैसे मांगता तो यह उत्तर मिलने पर कि पैसे नहीं हैं, उसे विश्वास नहीं होता कि दरअसल इस आदमी के पास पैसे नहीं हैं। बचपन में और बाद में मां ने अपने मन से उसे पैसे कभी नहीं दिए। जब बहुत पैसे मांगने पर भी नहीं देतीं तो उसे लगा करता कि मां को उससे प्यार नहीं है। घर का खर्च बढ़ता जाता था और घर में पैसे नहीं रहते थे पर अर्थ-व्यवस्था के, पैसों के रूप में, पैसों के बारे में उसको ज्ञान नहीं था। मां की तिजोरी में नोट देख कर उसे लगता कि मां के पास पैसे हैं पर वह नहीं दे रही हैं।

उसे रुपयों की बहुत जरूरत थी। इसलिए उसको यह देख कर कि मां ने रुपये दिए हैं, खुशी हुई कि उसे दिक्कत नहीं होगी पर तुरंत उसे खयाल आया कि खुशी उसे मां के रुपये देने पर नहीं हुई बल्कि अपने दिक्कत से बच जाने पर हुई है। इस बात के कारण उसने सोचा कि अगर वह रुपये लेगा तो अपनी सुविधा के कारण ले रहा होगा। मां का रुपये देना मां-बेटे के पुराने संबंधों की जगह पर एक नए संबंध की शुरुआत करना था। उसने कुछ अभिमान के साथ रुपये नहीं लेना तय किया।

भाई ने कई बार कहा पर उसने रुपये नहीं लिए। ट्रेन जब चल पड़ी तो वह खिड़की से बाहर देखने लगा। उसे लगा, रुपये न ले कर उसने बहुत ठीक किया। रुपये लेने पर शायद यह लगता कि मां का और उसका संबंध कहीं औपचारिक हो गया है।

❖

सनातन की खोज भारतीय मनीषा से जुड़ी है, किंतु धर्म के किसी रूप को हमारी सभ्यता ने परीक्षा की कसौटी से ऊपर नहीं माना। कट्टरवाद भारत की धार्मिक परंपराओं का मूल स्वर नहीं रहा, यद्यपि इतिहास में उन मोड़ों के भी हजारों उल्लेख हैं जो हिंसात्मक धर्मांधता से प्रेरित थे। भारतीय संस्कृति को बचाए रखने में उसके प्रश्न, शंका, असहमति, विरोध, सुधार और विद्रोह की परंपराओं का बड़ा हाथ रहा है। भारत के अनेक संत कवियों ने सामाजिक विक्षोभ की अभिव्यक्ति और अन्याय से लड़ने का एक नया मुहावरा विकसित किया। परंपरा को प्रकट रूप से बिना अस्वीकार किए उन्होंने पैने प्रश्न पूछे, गंभीर शंकाएं व्यक्त कीं, अपनी असहमति को शब्द दिए, विरोध को वाणी दी, सुधार की योजनाएं सुझाईं और आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह का समर्थन किया। इन परंपराओं ने एक ओर सामाजिक तनावों को दूर या कम किया तो दूसरी ओर सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न करने में भी सहायता दी।

—श्यामाचरण दुबे

निस्सीम इज़ेकील की कविताएं

•
जब दिन समाप्त हो जाए
जाने दो
मत करो कोशिश जागते रहने की
कुछ और काम कर लेने के लिए
बह जाओ रात में।

•
नकार दो रचनात्मक विचारों को
जब सबूत हों नकारात्मक,
वह भी है एक पवित्र आधार।
चलो शांत मन
न उंड़ेलो उपदेश, न करो व्याख्या
कि है यही इच्छा ईश्वर की।

•
यदि तुम्हें नींद न आए
जागते रहो शांत मन
अंधेरे में
अंधेरा बन।

•
कुछ भोजन परिपूर्ण होते हैं
नहीं होती उन्हें जरूरत किसी रस की
न किसी तुलना की,
खाओ कृतार्थ मन
और भूल जाओ।

•
कितना जीया मैं।
जो चाहा, पाया
सब अच्छा था
जरूरत है अब मुझे
सब अच्छा बनाने की
औरों के लिए।

•
मैं अपनी आत्मा से क्या कहता हूं
यह अहमियत नहीं रखता।
मेरी आत्मा की आवाज ही
प्रकाशित करती है
संपूर्ण ब्रह्मांड।

•
विकसित करो सूक्ष्मता,
फिर उसे त्याग दो।
तुम वह नहीं जो तुम विकसित करते हो
या त्याग देते हो।
तुम मात्र प्रक्रिया हो
विकास की।

•
कुछ भी घटित होता हो प्रत्येक दिन
सूर्य चमकता रहता है
तुम पर,
चमको और चमको
चाहे एक छोटे आईने की तरह ही।

•
कल्पना करो तुम अंधे हो :
चलो कल्पना करो मात्र दिन भर के लिए,
या कम-से-कम एक घंटे के लिए ही सही,
शायद सीख लो उपयोग
अपनी आँखों का।

•
हर मनुष्य एक शोक-पुरुष है
ईश्वर के वरदानों से युक्त।

•
कौन है जो तैर रहा है
मानव दुखों के महासागर में?
स्वयं मैं हूं।

❖

अंग्रेजी से अनुवाद : **किशोर सिन्हा**

शीलन

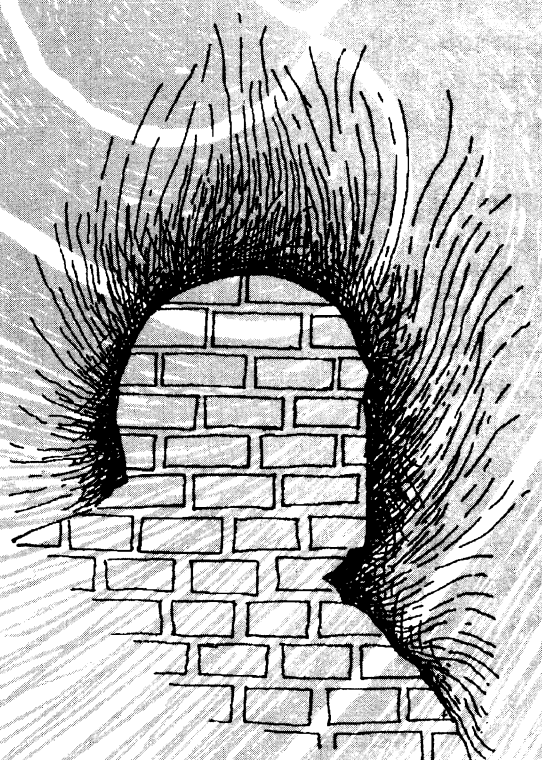

देखता हूं चौराहे पर एक व्यक्ति खड़ा है—वह यह नहीं जानता कि उसे अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए किस दिशा की ओर जाना है, कभी उत्तर की ओर जाकर लौटता है, तो कभी इधर, कभी उधर। क्यों ऐसा है? वह अन्य राहगीर से समाधान चाहता है, पर प्रायः सभी हाथ हिलाकर अजंता के भित्तिचित्र की भांति अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं—उसका कैसा असमंजस है!

इस दिशाशून्य, दिग्भ्रमित व्यक्ति ने मुझे विचार-मग्न कर दिया। वह क्या, आज पूरा मानव समाज दिग्भ्रमित और दिशाशून्य हो रहा है—भूल गया अपना लक्ष्य, भूल गया अपना गंतव्य। इस संकट, विकल्प और संशय का, अंतर्मन के विषाद का कौन समाधान करे?

कौन पथ संधान करे? चिंतक बताते हैं कि इस भौतिक समृद्धि के भीतर छिपी है घोर दरिद्रता, है इस उन्नति में भी अवनति और आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रत्यावर्तन। क्यों ऐसा है? क्या ये वैज्ञानिक आविष्कार—ये तकनीकी उपकरण—नित-नूतन अनुसंधान—सभी वृथा हैं?

—प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

महिलाएं अपने मूल्यांकन की अपेक्षा समझें या नहीं, किंतु उदारचेता पुरुष समाज का चिंतन युग के साथ बदलना चाहिए। जिस समय, जिस क्षेत्र में अपेक्षा हो, नारी-शक्ति का उपयोग किया जाए। एक महिला की भूमिका घर और बाहर—दोनों जगह महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

❑❑

गृहिणी गृहमुच्यते

❑ साध्वी गवेषणाश्री ❑

समाज के निर्माण में स्त्री और पुरुष का समान योगदान रहता है। युग के प्रवाह और उतार-चढ़ाव के इस दौर में जहां पुरुष का योगदान है, तो नारी का योगदान भी कम नहीं है। मातृपक्ष का गौरव तो वेद और उपनिषद् काल से ही स्थापित है। 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' में प्रथम स्थान नारी का ही है।

ऋग्वेद में गृह का सर्वस्व नारी को माना है।[1] मनुस्मृति में गुरु, पिता और आचार्य से बढ़कर माता का स्थान स्वीकृत है।[2] सोमदेवनीति में कहा है—'गृहिणी गृहमुच्यते'—घर नारी से सुशोभित होता है न कि ईंटों-पत्थरों से।[3]

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' जिस घर, परिवार, समाज में नारी की पूजा होती है—वहां देवता रमण करते हैं।[4] तथा मनुस्मृति में गुरु की पत्नी को गुरुवत् पूजनीय बतलाया है।[5]

वाल्मीकि-रामायण में मुख्य पात्र राम नहीं, सीता को माना गया है।[6] उस समय सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार भी समान रूप से प्राप्त थे। राम के युव-राज्याभिषेक के समय दशरथ के साथ कौशल्या ने भी अग्नि में मंत्रों सहित आहुति दी थी।[7] सीता को राजनीति में निपुण कहा गया है।[8]

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस पर विशेष

नारी की गुणात्मकता और मूल्यवत्ता स्वीकार करने पर भी व्यवहार के धरातल पर उसका उचित मूल्यांकन नहीं हुआ—यह कहना गलत नहीं होगा। रामायण में कुछ ऐसे प्रसंग उपलब्ध होते हैं जिनमें नारी-अवमूल्यन दृष्टिगोचर होता है। स्त्रियों के प्रति उपेक्षा और जुगुप्सा के भाव प्रदर्शित हुए हैं। हो सकता है कैकेयी, मंथरा, शूर्पणखा के अवांछनीय व्यवहारों से क्षुब्ध हो राम ने नारियों से सावधान रहने का परामर्श दिया और लक्ष्मण से कहा—स्त्रियां अस्थिर, चंचलचित्त होती हैं।[9] उनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए और न उन्हें रहस्यपूर्ण बातें बताएं।[10]

कुमारसंभव में स्पष्ट लिखा है—स्त्रियां कठोर होती हैं।[11] 'स्त्री शूद्रौ नाधीयतां' जैसे सूक्तों के आधार पर उन्हें अध्ययन-अध्यापन के कार्यों से वंचित रखा गया।

कबीरजी जैसे संत पुरुष ने भी नारी संसर्ग को वर्जनीय बताते हुए कहा—

नारी की झांई परत, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, जो नित नारी संग।।

नारी को वासना की मूर्ति और पैरों की जूती के समान समझा।

तथागत बुद्ध ने आनंद से कहा—आनंद! तेरे आग्रह से गौतमी को संघ में दीक्षित कर रहा हूं, लेकिन संघ के लिए खतरा है। इस प्रकार जैनेतर साहित्य में नारी का अवमूल्यन झलकता है। नारी की महत्ता को जहां आंका गया, वहां उसे शिखर पर समारूढ़ कर दिया और अवमूल्यन किया तो ऐसा कि तलहटी पर उतार दिया।

बौद्ध साहित्य में भी कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जहां पुरुष और नारी का अंतर स्पष्ट झलकता है। दंड-विधानों में

साधुओं की अपेक्षा साध्वियों के लिए गुरुत्तर दंड का विधान है।[12]

व्यवहार सूत्र में तीन या पांच वर्ष के दीक्षित साधु को क्रमशः आचार्य और उपाध्याय पद के कल्प हैं, वहीं 30 और 60 वर्ष की दीक्षित साध्वी को उपरोक्त पद का अधिकार दिया गया, पर वह भी तब, जब संघ में कोई योग्य साधु का अभाव हो।[13]

दिगंबर आचार्य कुंदकुंद ने स्त्री को विशिष्ट साधना एवं मुक्ति पाने का अधिकार ही नहीं दिया।

उक्त सभी संदर्भों में प्रश्न स्वाभाविक है कि नारी के साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया? गणाधिपति गुरुदेव तुलसी के अभिमत से तीन बिंदु उपस्थित होते हैं—

1. महिला जाति ने अपने कार्यों के अंकन की अपेक्षा न समझी हो।

2. महिला जाति की नैसर्गिक दुर्बलता का दुरुपयोग हुआ हो या उसे अनुभव भी नहीं होने दिया कि वह कुछ कर सकती है।

3. पुरुषप्रधान समाज व्यवस्था में महिला जाति को सदा हीन या तुच्छ समझा गया।

महिलाएं अपने मूल्यांकन की अपेक्षा समझें या नहीं, किंतु उदारचेता पुरुष समाज का चिंतन युग के साथ बदलना चाहिए। जिस समय, जिस क्षेत्र में अपेक्षा हो—नारी-शक्ति का उपयोग किया जाए। एक महिला की भूमिका घर और बाहर—दोनों जगह महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

भगवान ऋषभ ने पुरुषों के लिए 72 और स्त्रियों के लिए 64 कलाओं का निरूपण किया। ब्राह्मी के नाम पर ब्राह्मी लिपि का सूत्रपात हुआ।

भगवान महावीर का नारी जाति के प्रति बहुत उदार दृष्टिकोण था। प्रचलित परंपरा के विरुद्ध नारी जाति को दासत्व से मुक्त कर उन्होंने युगीन क्रांति का सूत्रपात किया। छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व साध्वी चंदनबाला को देकर नारी जाति को गौरव प्रदान किया। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी ने साध्वी गुलाबांजी को प्रमुख पद देकर उनके कार्यक्षेत्र को व्यापकता दी।

पिछले पांच दशक से नारी-जागृति का स्वर काफी बल पकड़ता जा रहा है। प्रबुद्ध महिलाएं सार्वजनिक रूप से क्रांति की आवाज उठा रही हैं। जनतंत्र के इस युग में समान अधिकार की बात स्वाभाविक और समय की अनिवार्य मांग है।

महिला जाति की दृढ़ता, दक्षता और उसकी योग्यता का मूल्यांकन कर गणाधिपति गुरुदेव तुलसी ने जो दिशा-निर्देशन, प्रेरणा-पाथेय दिया—युग-युग तक नारी जाति उनकी आभारी रहेगी। आज महिला समाज ने जो गति-प्रगति की है, विकास के जो नए-नए आयाम उसे प्राप्त हैं—गुरुदेव तुलसी का योगदान अविस्मरणीय है। घर की चारदीवारी से निकल कर अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र तक महिलाओं ने चरणन्यास किया है। तेरापंथ की साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के स्नेहिल नेतृत्व, व्यवस्था कौशल और अग्रगामी सोच ने नारी की सामर्थ्य और योग्यता को प्रमाणित कर दिया है। विशाल साध्वी समाज का दायित्व जिस रूप से वे संभाल रही हैं उससे अप्रतिम विश्वास स्थापित होता है। गुरुदेव कहा ही करते थे—कनकप्रभा ने मुझे साध्वी समाज की ओर से निश्चिंत कर दिया। तेरापंथ का साध्वी समाज, समणी वर्ग, मुमुक्षु बहनों की कार्यक्षमता देखकर कहा जा सकता है कि महिला समाज पुरुषों से किसी स्तर पर कम नहीं है।

व्यक्तित्व-विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है—चिंतन की स्वतंत्रता—जो व्यक्ति या समाज स्वतंत्र चिंतन नहीं कर सकता या उसे ऐसे अवसर नहीं दिए जाते, वह समाज कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकता। महिला वह धुरी है जिसके आलंबन से ही घर-परिवार की गाड़ी सम्यक् प्रकार से चल सकती है। हम वर्तमान युग की अपेक्षाओं को पहचानें और उसी संदर्भ में गतिशील बनें। महिलाओं पर युगचेतना के निर्माण का सबसे बड़ा दायित्व है। उसके निर्वहन से पहले अपने जीवन और कार्य-कलापों से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिएं जिनसे नारी जाति का गौरव स्वयं ही गौरवान्वित हो उठे। ❖

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 1/53/4 गृहिणी गृहमुच्यते
2. मनुस्मृति, 2/145

   उपाध्यायात् दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता।
   सहस्रं तु पितृन् माता, गोरवेणातिरिच्यते।।
3. कौटिल्य अर्थशास्त्रान्तर्गत सोमदेवनीति, पृ. 98
4. मनुस्मृति, 3/56
5. वही, श्लोक 210

   गुरुवत् प्रतिपूज्यास्यु सवर्णा गुरुपोषितः।
   असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः।।
6. काव्यं रामायणं कृस्नं सीतायाश्चरितं महत्, 1/4/7, वाल्मीकि-रामायण

7. रामायण, 2/20/25

सा क्षौमवसना दृष्टा नित्यव्रतपरायणा
अग्निं जुहोतिस्मतदा मत्रवत् कृत मंगला

8. अभिज्ञाराजधर्माणां; वही, 2/26/4
9. वही, 2/39/20/3 अनित्य हृदयाहिताः।
10. वही, 2/100/49 कच्चिन्न श्रद्धास्यासां कच्चिद् गुह्य न भाषते
11. कुमारसंभव, 4/5 कठिना खलु स्त्रियः।
12. साधु के लिए—चार पाराजिका, 13 संघादिदेश, 2 अनियत, 30 निसग्गियपाचित्तिय, 92 पारिचित्तिय, 4 पारिदेसनिय, 75 सेखिय। साध्वियों के लिए—8 पाराजिका, 70 संघादिदेश, 30 निसग्गिय पारिचित्तिय, 108 पचित्तिय, 8 पारदेसनिय, 75 सेखिय—बुद्धचर्या
13. व्यवहार सूत्र, उद्देशक 7, सूत्र 2

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे तीसवासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।... पंचवास परियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवास परियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ...।

❖❖

फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	गंगाशहर, बीकानेर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	दीपचन्द सांखला
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास, चंदनसागर, बीकानेर
4.	प्रकाशक का नाम	:	तरुण सेठिया
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा शाखा कार्यालय तेरापंथी भवन, गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान
5.	संपादक का नाम	:	शुभू पटवा
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	भीनासर, बीकानेर
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्रों के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्रों के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1

मैं तरुण सेठिया एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

तरुण सेठिया
प्रकाशक के हस्ताक्षर

सुनकर सुंदर को आश्चर्य हुआ। उसने कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसा भी कोई जंगल हो सकता है। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि इनसानों से अधिक सभ्य तो ये जानवर ही हैं। खुद उसके ही गांव में बात-बात पर लोग एक-दूसरे को मारने पर आमादा हो जाते हैं। कभी जाति और धर्म के नाम पर तो कभी जमीन-जायदाद के लिए विवाद उठ खड़े होते हैं। हत्याएं तक हो जाती हैं।

❑❑

बालकथा

जंगल का शासन

❑ *प्रदीप पंत* ❑

भद्रावती नदी के एक किनारे गांव असलमपुर और दूसरी तरफ घना जंगल। नदी में पानी अधिक नहीं रहता था। फिर भी जानवरों के डर से उस पार जंगल में कोई नहीं जाता था। इसी कारण सभी के लिए एक तरह की रहस्यमय दुनिया था—जंगल।

चौदह-पंद्रह साल का एक किशोर सुंदर अपने घर में अक्सर सुनता था कि जंगल में भयानक जानवर रहते हैं। सुंदर गांव के अन्य बच्चों से थोड़ा अलग था। वह हिम्मती था और किसी खतरनाक जगह में जाने में उसे बड़ा मजा आता था।

एक शाम उसने सोचा कि जंगल को थोड़ा-सा देख लिया जाए। सूरज ढलने में अभी समय शेष था, उसने नदी को पार किया और जंगल में पहुंच गया। जंगल में पेड़ों के पत्ते फड़फड़ा रहे थे और हवा सनसना रही थी। बीच-बीच में चिड़ियों की चहचहाहट या फिर किसी पशु के चिंघाड़ने की आवाज भी आ रही थी। उसे यह सब बड़ा अच्छा लग रहा था। वह जंगल के टेढ़े-मेढ़े और ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर टहलने लगा। इसी चक्कर में वह राह भटक गया। थोड़ी देर में अंधेरा भी छा गया। साहसी होने के बावजूद भी सुंदर घबरा उठा।

एक पेड़ के नीचे खड़ा होकर वह कुछ सोचने लगा। उसे रुलाई उठने लगी। तभी एक आवाज आई, 'बच्चे, रो क्यों रहे हो?'

सुंदर की घिग्घी बंध गई। उसे समझ में नहीं आया कि यह आवाज कहां से आई। उसने किसी तरह हिम्मत जुटा कर ऊपर की ओर देखा। पेड़ की डाल पर किसी बड़े-से पंछी की दो आंखें अंधेरे में चमक रही थीं। उस पंछी ने अपना सवाल दुहराया। सुंदर ने किसी तरह हिम्मत जुटा कर कहा, 'मैं नदी के उस पार गांव में रहता हूं। यहां जंगल में भटक गया हूं।'

'कोई बात नहीं। घबराओ मत।' फिर आवाज सुनाई दी—'तुम्हारी पीठ के पीछे पेड़ का जो तना है, वास्तव में जंगल के सभा-भवन की ओर जाने वाली सुरंग का यह एक दरवाजा है। तुम पलट के खड़े हो जाओ और दरवाजा खोल कर सुरंग से होते हुए सीधे सभा-भवन में चले जाओ। तुम्हारी मुसीबत दूर हो जाएगी।'

सुंदर ने सोचा, मैं अब भाग कर तो कहीं जा नहीं सकता। इसलिए जो-कुछ कहा गया है, वही करूं। तुरंत पलट कर उसने दरवाजा खोलकर देखा। सुरंग में तेज

रोशनी नजर आने लगी। वह सुरंग के अंदर चला गया। चलता हुआ कुछ ही देर में जंगल के सभा-भवन में पहुंच गया। जहां तेज प्रकाश में एक तरफ ऊंचे-से सिंहासन पर शेर और हाथी एक-दूसरे के अगल-बगल में बैठे हुए थे। उनके सामने भालू, रीछ, हिरन, जंगली कुत्ते, लोमड़ी, ऊद-बिलाव, खरगोश आदि अनेक जानवर भी बैठे थे। लगा कि सभा जुड़ी है और ये सभी सभासद हैं। शेर और हाथी जंगल के शासक हैं। सभासदों से शेर पूछ रहा था, 'जंगल में किसी ने किसी को मारा तो नहीं?'

'नहीं वनराज, कहीं खून की एक बूंद भी दिखाई नहीं दी।' जंगली कुत्ते ने जवाब दिया।

'ठीक है। ऐसा ही होना चाहिए। वन में शांति ही बनी रहनी चाहिए।'

तभी शेर की नजर किशोर सुंदर पर पड़ी। वह बोला—'बच्चे, आओ। घबराओ मत, हमारे पास आओ। तुम्हारे बारे में हमें खबर मिल गई है। तुम पेड़ के नीचे खड़े रो रहे थे। रोने की कोई बात नहीं। घबराओ नहीं। अब तो रात हो गई है, तुम हमारे अतिथि-गृह में आराम करो। सवेरा होते ही तुम्हें नदी के किनारे छुड़वा दिया जाएगा।'

सुंदर को यह सब सुन कर आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा कि बाहर पेड़ की डाल पर बैठे पंछी ने उसके बारे में कैसे इतनी जल्दी शेर को बता दिया।

तभी शेर ने खरगोश की ओर देख कर कुछ इशारा किया। खरगोश उछलता हुआ सुंदर के पास आया और उसे सभा-भवन के पीछे बने हुए अतिथि-गृह में ले आया। उसने चैन की सांस ली। वहां जंगल की लकड़ी का बना हुआ बढ़िया पलंग था। खरगोश ने उससे कहा, 'तुम आराम करो।'

खरगोश उसके लिए दौड़ कर पानी ले आया। थोड़ी देर में बढ़िया भोजन भी आ गया। सुंदर और खरगोश दोनों ने साथ बैठ कर खाना खाया। फिर खरगोश भी उसी के साथ पलंग पर लेट गया और दोनों बातें करने लगे।

अब तक सुंदर की घबराहट तो दूर हो गई थी, लेकिन यह सोच-सोच कर वह परेशान हो रहा था कि उसके घरवाले अवश्य चिंतित हो रहे होंगे। उसने जब यह बात खरगोश को बताई तो खरगोश ने कहा—'हां, यह तो है ही, लेकिन इसका कोई उपाय नहीं है। क्योंकि कोई भी जानवर नदी के पार गांव में नहीं जा सकता। गांव वाले, जाने क्यों, जानवरों को मार डालते हैं, जबकि हम तो उनका कुछ बिगाड़ते भी नहीं।'

सुंदर चुप हो रहा।

खरगोश ने उसे बताया कि जंगल में सभी जानवर शाकाहारी हैं। कोई किसी को मारता-पीटता नहीं। हत्या-बलात्कार नहीं होते। सब शांति के साथ रहते हैं और बारी-बारी से एक-एक साल शेर और हाथी शासन करते हैं।

सुनकर सुंदर को आश्चर्य हुआ। उसने कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसा भी कोई जंगल हो सकता है। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि इनसानों से अधिक सभ्य तो ये जानवर ही हैं। खुद उसके ही गांव में बात-बात पर लोग एक-दूसरे को मारने पर आमादा हो जाते हैं। कभी जाति और धर्म के नाम पर तो कभी जमीन-जायदाद के लिए विवाद उठ खड़े होते हैं। हत्याएं तक हो जाती हैं।

यही सब सोचते-सोचते सुंदर को नींद आ गई। उधर गांव में उसके मां-बाप, भाई-बहनों का रोते-रोते बुरा हाल था। सुंदर के लापता होने के बारे में तरह-तरह के अनुमान लगाए जा रहे थे। कोई कह रहा था कि सुंदर को लकड़बग्घा उठा ले गया होगा। कोई सोच रहा था कि सुंदर गांव से भाग कर शहर चला गया होगा। किसी को लग रहा था कि सुंदर के बाप से दुश्मनी के कारण गांव के पटवारी ने सुंदर को अपने गुंडों से उठवा दिया होगा। तरह-तरह की आशंकाएं उठने लगीं।

सवेरा होने पर सुंदर की नींद खुली तो उसने देखा कि खरगोश कमरे में इधर से उधर फुदक रहा है। सुंदर मुस्कराते हुए उसे देखता रहा। उसे बड़ा अच्छा लगा। फिर उसने खरगोश से पूछा, 'क्यों भाई, सवेरे-सवेरे यह उछल-कूद कैसी?'

'कसरत कर रहा हूं।' खरगोश ने जवाब दिया, 'कसरत से शरीर में फुर्ती आ जाती है। तुम भी किया करो।'

'हां, अब से मैं भी हर-दिन कसरत करूंगा।' सुंदर ने कहा।

खरगोश बोला, 'अब तुम जल्दी-से तैयार हो जाओ। तुम्हें नदी के किनारे तक छोड़ आऊंगा। नदी पार करके तुम अपने गांव चले जाना।' और इतना कह कर खरगोश बाहर निकल गया। सुंदर हाथ-मुंह धोने आदि में जुट गया।

पंद्रह-बीस मिनट बाद हंसते हुए खरगोश फिर आ गया। उसने बताया कि इतनी देर में वह उछलता-दौड़ता हुआ जंगल में पांच-सात मील का चक्कर लगा आया है।

कुछ देर बाद खरगोश सुंदर को नदी के किनारे तक छोड़ आया। विदा होते समय उसने सुंदर से कहा, 'मौका मिले तो फिर आना। तुम्हें कोई परेशानी नहीं होगी।'

लेकिन सुंदर उसे गांव आने का निमंत्रण नहीं दे सका। उसे पता था कि खरगोश ने गांव में कदम रखा तो लोग उसे मार कर खा जाएंगे। उसे दुख हुआ कि अपने को सभ्य प्राणी कहने वाला इनसान कितना बेरहम है?

सुंदर थोड़ी ही देर में नदी पार कर अपने घर पहुंच गया। मां-बाप, भाई-बहन रात-भर नहीं सोए थे। उन्होंने सुंदर के लौटने की आशा भी छोड़ दी थी। पर, उसे सामने देखते ही सब उससे लिपट गए। आस-पास के तमाम लोग इकट्ठे हो गए। सुंदर ने उन्हें बताया कि किस तरह वह जंगल में भटक गया था। रात हो गई थी और फिर किस तरह जानवरों ने उसकी आवभगत की। सब लोग उसकी बातें सुन कर आश्चर्य में पड़ गए। वे तो आज तक जानवरों को अपना दुश्मन ही मानते थे।

सुंदर ने उनसे कहा, 'जंगल के जानवर हमारे दुश्मन नहीं हैं। हम ही उनके दुश्मन हैं और आपस में भी एक-दूसरे के दुश्मन बने हुए हैं।'

गांव वालों ने आपस में बातचीत की। सुंदर ने जो-कुछ कहा, उसके बारे में सोचा और निश्चय किया कि अब से वे न तो आपस में एक-दूसरे के दुश्मन बने रहेंगे और न जंगल के भोलेभाले जानवरों से दुश्मनी करेंगे।

❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

With best compliments from :

Inderchand Ashok Naman Bohara
Goutham Arihan Bafna

BOHARA METAL PRODUCTS

SRRI MILAN IMPEX

Manufacture Exporter of Stainless Steel Utensils & Cutlery

Registered Office :
 # 204, Triplicne High Road
Chennai 600005
Phone : 0091-44-28481014

Administrative Office :
 # 304, Mint Street
Chennai 600003
Phone : 0091-44-25357767 Fax : 25332142

Works :
 # G 17, Vyasarpadi Insustrial Estate, E. H. Road
Chennai 600039
Phone : 0091-44-25520681

Mobile : 98840 17000 / 98841 17000
e-mail : boharametal@satyam.net.in

जैन भारती, मार्च, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

श्री जय महावीर

जय भिक्षु जय तुलसी जय महाप्रज्ञ

भय वहां होता है, जहां श्रद्धा का उत्कर्ष नहीं होता। श्रद्धा का उत्कर्ष ही अभय है। अभय आने से साधना निर्बाध हो जाती है।

आचार्य तुलसी

स्व. सोहनलालजी बोराणा
7.11.1916—6.1.2004

श्रद्धावनत
शांतिलाल, मदनलाल, कैलाशचन्द्र
रमेश-रोशन बोराणा, बरार (मेवाड़) वासी
बैंगलोर प्रवासी

महावीर ज्वेलर्स
सकलाजी मार्केट, ऐवेन्यू रोड, बैंगलोर 560002
फोन : 22212114

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।